लेटर-बॉक्स

▶▶ 'कथाबिंब' का १३७वां अंक प्राप्त हुआ. मात्र ७५० रुपये में आजीवन 'कथाबिंब' जैसी उत्कृष्ट साहित्यिक पत्रिका घर बैठे प्राप्त करना सुखद अनुभव है. साथ ही संपादकीय में पत्रिका के पाठकों तक पहुंचने की चिंता आज के समय में दुर्लभ है. यह पत्रिका के संपादन मंडल की पाठकों के प्रति उत्तरदायित्व की गंभीरता को लक्षित करता है. संपादकीय में भारतीय राजनीति का सटीक विश्लेषण किया है. जीतने पर वोटिंग मशीन ठीक है और हारने पर वोटिंग मशीन में छेड़छाड़ का आरोप. यह मतदाता के अपमान के साथ उनकी एक ओछी समझ है.

नीरजा हेमेंद्र की कहानी 'एक ऋतु ऐसी भी' युवा अध्यापिका के सपनों और संघर्ष की कथा है, साथ-साथ ईशिता की भी कथा है. आज के युग में जितनी भी लैंगिक समानता की बात कर लें, पर व्यवहार में सब कुछ पुरुष प्रधान है. सकारात्मक सोच के आगे संघर्ष रंग लाता है और अंत भी सुखद होता है. महिला सशक्तिकरण की एक सशक्त कहानी के लिए लेखिका को बधाई. एक श्रेष्ठ कहानी पढ़ने को मिली. डॉ. रमाकांत शर्मा की कहानी 'मां के चले जाने के बाद' कोमल संवेदनाओं की कथा है. पुत्र के लिए पिता को प्रसन्न रखना परम कर्तव्य है, लेकिन मां के प्रति हृदय में प्यार अव्यक्त रहता है. अचानक ही एक कार्यक्रम में भावनाओं के बांध को तोड़ देने से पिता-पुत्र का मिलन सुखद है. डॉ. अमिताभ शंकर राय चौधरी की कहानी 'पानी की प्यास' एक क्षेत्र के जल संकट की कहानी है. आज़ादी के सत्तर साल बाद भी पेयजल की सुविधा न होना लोकतंत्र और राजनीति पर करारा तमाचा है. जहां केवल पानी के लिए अतिरिक्त 'जलपत्नी' या 'जलपत्नियां' रखने की प्रथा है. लेकिन स्थायी समाधान कोई भी खोजना नहीं चाहता है. 'कोख़' अरुणा जेठवाणी की महिला प्रधान कहानी है. इसमें मां, बेटी, पिता और काका के चतुष्कोण में भी प्यार, लगाव, अपनापन, संशय सभी भावनाएं हैं. मां के बुलाने पर गर्भवती पुत्री का मां के पास जाना और मौन संवाद कहानी को सफल बनाते हैं. माधव नागदा की कहानी 'सृजन यात्रा' लेखकीय कर्म में पत्नी के योगदान और समझ की कथा है. साथ ही 'आमने-सामने' में साहित्यकार के संघर्ष और सफलता की यात्रा को माधव नागदा बख़ूबी पाठकों के सामने लाये हैं. उन्हें धन्यवाद.

कुल मिलाकर कहानियों के चयन से यह श्रेष्ठ अंक है. हमेशा की तरह डॉ. राजम पिल्लै का आलेख उल्लेखनीय व स्मरणीय है. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में एनी बेसंट के अप्रतिम योगदान को विस्तार से बताता है.

– राजेंद्र कुमार

२८२, राजीवनगर, नगरा, झांसी-२८४००३३. मो.: ९४५५४२०७२७

▶▶ आपने मेरी कहानी 'बिरवे' को 'कथाबिंब' के जनवरी-मार्च २०१६ अंक में स्थान दिया. आभार. आपकी पत्रिका के माध्यम से मेरी पहुंच तमाम प्रबुद्ध पाठकों तक हुई. यह मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है. मैं उन सभी सुधी पाठकों का तहेदिल से शुक्रिया अदा करता हूं जिन्होंने मेरी कहानी पढ़ी एवं अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे अवगत कराया. 'कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार २०१६' के लिए मेरी कहानी को इतनी बड़ी-बड़ी हस्तियों के साथ पाठकों ने नामित किया, यह मेरे लिए सपने जैसा है. मुझे यह कहते गुरेज़ नहीं कि मालती जी सरीखी कथाकारों को मैं सौ-सौ बार पढ़ता रहा हूं. मैंने उनकी कहानियों से बहुत कुछ सीखा है और आगे भी सीखता रहूंगा. पाठकों ने उनके नाम के साथ मेरे नाम को भी नत्थी किया है. इससे बड़ा सम्मान भी कुछ हो सकता है क्या!! सच कहूं तो लेखकीय जीवन की यह पहली घटना है जब मुझे इस तरह से किसी पुरस्कार के लिए चयनित किया गया है. बड़ी विनम्रता के साथ आप के माध्यम से तमाम पाठकों का मेरे जैसे रचनाकर्मी की हौसला अफ़जाही के लिए धन्यवाद प्रेषित करता हूं. सच पूछा जाय तो यह सम्मान उन तमाम नये रचनाकारों का है, आज माध्यम मैं बना हूं, कल वे बनेंगे.

विशेष अरविंद जी आपको स्मरण होगा, कहानी के प्रकाशित होते ही मैंने दूरभाष पर ग़लती से मेरे नाम के साथ डॉक्टर जोड़े जाने का मसला उठाया था. पुन: मैं

इस बात को स्पष्ट कर दूं कि कृपया इसे सुधार कर पढ़ा जाये. मेरे द्वारा भेजे गये मेरे संक्षिप्त परिचय में भी स्पष्ट तौर पर लिखा गया है कि मैं विज्ञान स्नातक (रसायन में प्रतिष्ठा) हूं, कृपया इस बात की घोषणा करें अन्यथा मेरे मित्रों में ग़लतफ़हमी होगी. बड़ी कृपा होगी अगर आप मुझे अपनी पत्रिका का नियमित सदस्य बना लें.

– सुभाष रंजन

२२/२३, न्यूटन, बी-जोन, जि.:प. बर्दमान,
दुर्गापुर-७१३२०५ (प. बं.).

▸▸ 'कथाबिंब' का १३७वां अंक मिला. यही नहीं मुझे लगभग सभी अंक समय से मिल जाते हैं. त्रैमासिक निश्चित ही साहित्य जगत में अपना विशेष स्थान बना चुकी है. इस अंक में मुझे जो सर्वश्रेष्ठ कहानी लगी, वह है रमाकांत की 'मां के चले जाने के बाद', 'सृजन यात्रा' में भी पत्नी के योगदान को लेखक ने बख़ूबी उकेरा है. 'पानी की प्यास' में चौधरीजी ने नारी के उत्पीड़न पर अच्छा तंज़ कसा है. अन्य स्तंभ भी स्तरीय हैं, यह कोई कहने की बात नहीं है. आप स्वयं अंक की सभी रचनाओं की वांछित टिप्पणी कर ही देते हैं. लघुकथाएं बेशक उतना प्रभाव नहीं छोड़ पायीं, ख़ैर! एक अच्छे अंक के लिए बधाई!

– के. पी. सक्सेना 'दूसरे'

शांति नगर, टाटीबंध, रायपुर-४९२०११

▸▸ आपकी गुणवत्तापूर्ण पत्रिका का नियमित पाठक हूं एवं जीवन संध्या में भी मुझे आपकी पत्रिका से प्राप्त नवीनतम जानकारी शिक्षण संस्थानों में बच्चों से समय, कैरियर, 'जीवन मूल्य' प्रबंधन पर वार्त्ता देते समय उपयोगी होती है. कृतज्ञ हूं संपादन परिवार के सदस्यों का. पढ़ने के बाद पत्रिका किसी स्कूल के पुस्तकालय में सदुपयोग हेतु भेंट कर देता हूं. पत्रिका की नियमितता, निरंतरता, सामयिकता, गुणवत्ता सराहनीय है. धर्मयुग, सारिका, साप्ताहिक हिंदुस्तान की कहानियों से रिक्त हुए सूनेपन को 'कथाबिंब' द्वारा भरने का सार्थक प्रयास स्तुत्य है. आपके कुशल संपादन को सलाम!

५ जून को विश्व पर्यावरण दिवस पर शिक्षण संस्थानों में ग्रीष्मावकाश रहता है. इसलिए आपकी पत्रिका के माध्यम से इस पत्र द्वारा पाठकों, विशेष रूप से बाल पाठकों से अनुरोध/प्रार्थना कर रहा हूं कि पर्यावरण संरक्षण हेतु घर में ही एक पौधा लगायें. बिजली, पानी, ऊर्जा, पेट्रोल, खाद्यान्न का दुरुपयोग नहीं करें. पिछले वर्ष की नोटबुक्स से बचे खाली पन्ने अलग कर अगले सत्र हेतु रफ़ वर्क के लिए नोटबुक्स बनाकर काग़ज़ एवं पेड़ बचायें. कचरा निश्चित स्थान पर ही फेंके एवं पर्यावरण की रक्षा हेतु मम्मी पापा के सुझावों का पालन करें.

– दिलीप भाटिया,

३७२/२०१, न्यू मार्केट, रावतभाटा-३२३३०७

▸▸ 'कथाबिंब' का जन.-मार्च २०१७ का अंक मिल गया है. 'कुछ कही, कुछ अनकही' पठनीय है. आखरी चार पैरे बहुत प्रभावी है. कहानी पत्रिका होने से कहानी बहुल अंक हो ही जाता है. तथापि कविता, गीत, ग़ज़ल से साहित्यिक रचनात्मकता का आस्वाद बदलने के लिए उन्हें भी आप स्थान देते हैं. यह उचित ही है. पाठक इनकी रुचि की शिकायत न करें. मुझे मेरी प्रकाशित ग़ज़ल पर प्रशंसा के तीन फ़ोन आये. अच्छा लगा. कथा के पाठक कविता भी शौक़ से पढ़ लेते हैं. अंक सर्वथा पठनीय है.

– चंद्रसेन 'विराट'

१२१, वैकुंठधाम कॉलोनी, आनंद बाज़ार के पीछे,
इंदौर-४५२०१७ (म. प्र.).

▸▸ 'कथाबिंब' के जनवरी-मार्च २०१७ अंक में मेरी कहानी 'मां के चले जाने के बाद' शामिल करने के लिए हृदय से आभारी हूं. 'कथाबिंब' के जरिये कहानी पाठकों के एक बहुत बड़े वर्ग तक पहुंचती है और उनकी प्रतिक्रियाएं भी मिलती हैं तो मन को बहुत संतोष मिलता है. इस कहानी पर ईमेल, फ़ोन तथा एसएमएस के जरिये निरंतर प्रतिक्रियाएं मिल रही हैं.

- डॉ. रमाकांत शर्मा

४०२, श्रीराम निवास, टट्टा निवासी हाउसिंग
सोसायटी, पेस्तम सागर रोड नं.३,
चेंबूर, मुंबई-४०००८९

▸▸ बुरा न मानना मैं तुम्हें माधव ही कहूंगा अरविंद कहना जरा अटपटा लगता है. तुम मेरे सबसे

छोटे भाई की उम्र के हो. शायद दोनों साथ-साथ पढ़े भी होगे. हम दोनों के पारिवारिक संबंध न जाने कितने पुराने हैं. बंबई जाने के बाद जब भी तुम फ़तेहगढ़ आते हो मुझसे अवश्य मिलते हो. काफ़ी पहले तुमने मुझे 'कथाबिंब' के बारे में बताया था और किसी अंक की एक प्रति दी थी. फ़ौरन मैं आजीवन सदस्य बन गया था.

यह कम ही लोग जानते हैं कि मैं भी बंगाली में कविता करता हूं. कुछ पुस्तकें भी छपी हैं. 'कथाबिंब' का हर अंक उलट-पुलट लेता हूं. जनवरी-मार्च २०१७ अंक में गीत, आखिर यह देश किसका है... (अखिलेश 'अंजुम') ने मुझे अंदर तक झकझोर कर रख दिया. 'कथाबिंब' के माध्यम से निश्चय ही तुम बड़ा काम कर रहे हो. मेरी बधाई लो.

– डॉ. दीपक कुमार पाल

१/१४१ तलैय्या लेन,

परेड ग्राउंड, फतेहगढ़-२०९६०१ (उ. प्र.).

▶▶ 'कथाबिंब' का जन.-मार्च १७ अंक मिला. सर्वप्रथम 'कथाबिंब' के सफलतापूर्वक ३८ वर्ष की यात्रा पूर्ण करने हेतु बधाई. आपके अथक श्रम और निष्पक्ष दृष्टि से ही यह संभव हो सका है.

कहानियों में नीरजा हेमेंद्र की लंबी कहानी 'एक ऋतु ऐसी भी' ने प्रभावित किया. पृष्ठ १६ पर ईशिता का यह प्रश्न कि 'किसी लड़की की... जबकि यही पैमाना किसी लड़के की योग्यता को नापने के लिए आवश्यक नही होता.' एकदम सामयिक है. सफल वैवाहिक जीवन के लिए दोनों पलड़ों का बराबर होना आवश्यक है. असफलता का दंश, स्त्री के ही हिस्से आये, यह अन्याय है. लघुकथाओं में योगेंद्र शर्मा (आम आदमी) व माला वर्मा (वाह क्या कहना) ने ध्यान आकर्षित किया. आमने-सामने में माधव नागदा का आत्मकथ्य, औरतनामा में एनी बेसंट (डॉ. राजम पिल्लै) एवं संस्मरण में प्रो. बैजनाथ त्रिपाठी (डॉ. चंदेल) के व्यक्तित्व ने अभिभूत किया. अब कहां, ऐसे लोग? डॉ. सतीश दुबे के संपादन में मुझे प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था. उन्हें मेरी विनम्र श्रद्धांजलि.

काव्यधारा में 'अंजुम' का गीत, स्व. महरिष की पहली ग़ज़ल, स्नेही का शेर (बारहा, धोखा हुआ है) अच्छे लगे. सामयिक परिस्थितियों पर आपकी तीखी नज़र, काबिले दाद है. इसके बाद भी तो समय की नदी में बहुत सारा पानी बह गया है.

तीसरे मोर्चे का फुसफुसा गठन, यादव कुल का मूसल घमासान, बिखरती झाड़ू, लालू पर उच्चतम न्यायालय का शिकंजा और सबसे बढ़कर कश्मीर का गोटमार, पाकिस्तान की नापाक हरकतें, ट्रंप का वीज़ा दांव. ... कहीं हम, तीसरे विश्वयुद्ध की ओर तो नहीं बढ़ रहे हैं.

- आनंद बिल्थरे

प्रेमनगर, बालाघाट ४८१००१ (म. प्र.)

▶▶ 'कथाबिंब' का नया अंक (१३६) मिला है. एक अरसे बाद कथाकार मनहर चौहान के बारे में पढ़कर प्रसन्नता हुई है. उनकी कहानी 'घर घुसरा' का नाम अब तक याद है. १९६३ से लिखना शुरू किया था, अत: विरासत के रूप में कहानी का वह दौर मेरे जेहन में है. उस वक़्त के कुछ और लेखक अब यादगार बन गये है.

मनहर भाई एक जगह लिखते हैं, 'सारा साहित्य जैसे एक लड़के और एक लड़की की कहानी तक ही सीमित हो गया है.' यह ग़लत है. लगता है आज की कहानियों से उनका संपर्क टूट गया है. नहीं तो वे ऐसी बेमालूम बात नहीं कहते. प्रेमचंद के बाद का कथा साहित्य बहुत आगे बढ़ गया है. शिल्प, कथ्य के स्तर पर भी नये विचार, समस्याएं सारी धारणाएं बदल चुकी हैं.

- सिद्धेश,

१/१७, आदर्श पल्ली, फ़्लैट १ बी,

रिजेंट एस्टेट, कोलकाता-७०००९२.

▶▶ मैं जब किसी कहानी, आत्मकथ्य को पढ़ता हूं, लगता है उसका एक पात्र मैं भी हूं. 'सृजन यात्रा' में माधव नागदा को पढ़ा. जाना कि लिखने के लिए कैसे विषय ढूंढ़ते हैं. काग़ज़ पर लिखना, उसे छपने लायक बनाना. कुछ काग़ज़ ख़राब होना. जाहिर है मेरी पत्नी भी इन रद्दी हुए काग़ज़ों की सफ़ाई करती है. कहानी 'एक ऋतु ऐसी भी' शिक्षाप्रद है. लड़की प्रेमजाल में छली जाती है. अपनी आपबीती से दूसरे को सुधारना भी कहानीकार का अच्छा प्रयास है. 'मां के चले जाने के बाद' कहानी भावपूर्ण लगी. पत्नी का वियोग पति का चुपचाप सहना. उसके बेटे का वियोग यही जाहिर करता है कि दोनों का अपना दुख जाहिर न करना महानता है. 'आमने-सामने' स्तंभ के आत्मकथ्यों में व्यक्ति के जीवन में आये उतार चढ़ाव पढ़ने को मिलते हैं. रचनाकार भी इन उतार चढ़ावों में अपनी पहचान बनाता है.

-दिलीप कुमार गुप्ता,

११ छोटी वमनपुरी, बरेली (उ. प्र.),

रात भर बर्फ़ गिरती रही

✍ संतोष श्रीवास्तव

'रात भर बर्फ़ गिरती रही. ठीक से सो भी नहीं पायी उर्मि. सुबह-सुबह थोड़ी झपकी लगी थी कि डोर बेल ने जगा दिया. दरवाज़ा खोलते ही वह चौंक पड़ी थी — 'अरे तेजा, इतनी बर्फ़ में?'

'बर्फ़ तो इस मौसम में गिरना ही है जी, आप जल्दी से दूध की केतली खाली कर दो, और भी जगह जाना है.'

तेजा के जाते ही उसने दरवाज़े के बाहर देखा. गिरते बर्फ़ में दूर तक बस सफ़ेदी ही सफ़ेदी नज़र आती थी. ऐसी ही बेशुमार बर्फ़ ... बल्कि इससे कई गुना ज़्यादा बर्फ़बारी हो रही होगी जब प्रशांत एवरेस्ट की चोटियों पर थे. एक सौ चालीस प्रति घंटे की रफ़्तार से चलता बर्फ़ीला अंधड़, कोहरे की मोटी चादर और कड़कती बिजली...मानो पहाड़ों का प्रलयंकारी अट्टहास... मेज़र ने बताया था कि — 'प्रशांत के दल को होने वाले ख़राब मौसम की जानकारी तो मिल गयी थी पर वे कुछ कर भी नहीं सकते थे क्योंकि न तो हम लोग कोई मदद कर पा रहे थे और न ही उन्हें बर्फ़ में दबे रस्से मिल पा रहे थे. लोत्से फ़ेस पर तब बर्फ़ का स्तूप-सा उठता जा रहा था.'

'क्यों मदद नहीं कर पाये मेज़र... ज़िंदा दफ़न हो गये प्रशांत?' उर्मि ने पूछना चाहा था पर बदन को काटती ठंडी बर्फ़ीली दरांती उसके बदन में खुंपी जा रही थी. खुंप कर आग की तरह जली जा रही थी और आयोडीन का ठंडा फ़ाहा भी बांह पर चुभ रहा था. मेज़र के लिए सोफ़ों पर बैठे प्रशांत के परिवार को, उसके पिता, छोटे भाई विवेक और बेटे चिंटू को झेल पाना कठिन हो रहा था. फिर भी उन्होंने हिम्मत की — 'हमारी सहायता टोली मौसम ख़राब होने की वजह से तीसरे कैंप तक नहीं पहुंच पायी थी. दूसरे दिन भी चाहकर भी तमाम प्रयासों के बावजूद हम लोग कुछ नहीं कर पा रहे थे. बड़े-बड़े चिनार, देवदारों तक को धराशायी करने वाले बर्फ़ीले तूफ़ान के आगे आदमी की क्या बिसात? एक क़दम भी आगे बढ़ा पाना मुश्किल था. एवरेस्ट एक विशाल दानव की तरह मुंह बाये था.' अपनी डबडबाई आंखों के आंसू अंदर ही अंदर घोंटकर रखने वाले बाबूजी बिसूर उठे थे — 'जिस दिन वह एवरेस्ट विजय के लिए रवाना हुआ था, उसी दिन उसकी नयी कार आयी थी. उसने वादा किया था कि वह लौटकर हम सबको जगन्नाथपुरी घुमायेगा' रोकते-रोकते भी उनके आंसू गालों पर बह चले थे. मेज़र ने उनकी पीठ थपथपायी थी. चिंटू धीरे से उनके पास सरक आया था — 'अंकल, क्या सचमुच अपनी बर्थडे के दिन पापा ब्लैक होल मे गिरे थे?'

प्रशांत का जन्मदिन! कितनी ख़ुश थी उर्मि उस दिन... तमाम घर में उसने जगह–जगह सफ़ेद गुलाब सजाये थे जो प्रशांत के पसंदीदा थे. उसने क्रीम शिफ़ॉन की गुलाबी फूलोंवाली साड़ी पहनी थी. शाम छः बजे से पार्टी थी. प्रशांत के जन्मदिन के साथ मुख्य वजह थी उसके एवरेस्ट विजय में निकले अभियान के लिए सफलता की शुभकामनाओं की. पार्टी देर तक चली थी. अचानक फ़ोन रिसीव करते हुए बाबूजी का लड़खड़ा कर सोफ़े पर गिर जाना देख विवेक उनकी ओर दौड़ा था — 'अरे बाबूजी को क्या हुआ? बाबूजी आप बोलते क्यों नहीं? क्या हुआ?' विवेक ने उनके हाथ से फ़ोन लेकर कान में लगाया. मेज़र की आवाज़ थी — 'विवेक कंट्रोल करना अपने आप को... प्रशांत इज़ नो मोर.'

'क्या?' एकबारगी जैसे बिजली का करेंट पूरे कमरे में फैल गया हो. उर्मि स्तब्ध थी .... उसे लगा जैसे उसकी साड़ी के गुलाबी फूल एक-एक कर झरते चले जा रहे हैं...

उसकी नसों में ख़ून तेज़ी से दौड़ने लगा... वह बेहोश हो गयी. होश आया तो ख़ुद को अस्पताल में पाया... पूछा पास खड़े विवेक से — 'प्रशांत आये?' कैसे कहे विवेक कि न तो अब प्रशांत भाई लौटेंगे और न ही उनका पार्थिव शरीर. प्रशांत सहित पांच और पर्वतारोहियों के शवों को उनकी टीम आधारकैंप तक लाने में भी सफलता नहीं पा सकी थी. बर्फ़ और आंधी का तांडव तब भी ज़ारी था. रस्सों की मदद भी काम न दे सकी. इसलिए वहीं हिमालय में ही उन्हें दफ़ना दिया गया. लाशों को उठा-उठा कर पहाडों की चोटी से नीचे सैंकड़ो मीटर गहरी खाइयों में ढकेल दिया गया था. लेकिन यह बात वह उर्मि से कहे कैसे? इतना साहस कहां से जुटाये? अपने अभियान को समाप्त कर जब मेज़र लौटे थे तब तक उर्मि काफ़ी संभल चुकी थी. स्थिति की सच्चाई झेलने लायक अपने को पा रही थी. मेज़र ने बताया था कि कैसे एवरेस्ट की खड़ी चढ़ाई और उतराई पर रस्सों का सहारा लिया जाता है. जब प्रशांत का दल चढ़ाई पर था तो अचानक मौसम ख़राब हो गया था. बर्फ़ इतनी गिरी कि जगह-जगह सफ़ेद स्तूप बन गये.

बर्फ़ के नीचे रस्से भी दब गये जिन्हें ढूंढ़ पाना बहुत ही जटिल था. रस्सों का गुमना मानो विनाश की पूर्व घोषणा थी. पूरा दल हाथों से बर्फ़ हटा-हटा कर रस्से खोज रहा था मानो रस्से नहीं ज़िंदगी की डूबती सांसें ढूंढ़ रहा हो. जब रस्से नहीं मिले तो सभी ने वापिस चौथे कैंप में लौटना चाहा. तीसरे कैंप से मदद मांगी गयी पर मौसम की विभीषिका के आगे सब बेकार. दल के दो लोगों ने ही मिलकर टैंट तैयार किया और वहीं बर्फ़ की मार खाये पर्वतारोहियों को सुला दिया और मदद आने का इंतज़ार करने लगे. टैंट में सोये सभी लोगों के शरीर धीरे-धीरे तंद्रिल निद्रा में डूबते चले गये. मौत के क़दमों की आहट सुनने के लिए सारी ताकत कानों में जुट गयी. अब उर्मि का क्या होगा? कैसे पूरी ज़िंदगी का वैधव्य ढो पायेगी वह? फ़ैसला मेज़र ने किया — 'बाबूजी भाभी के हक़ में यही ज़्यादा सही है कि वे सर्विस करें, उनका बिज़ी रहना बहुत ज़रूरी है. चिंटू को आर्मी स्कूल में दाख़िला दिलवा देते हैं. वहीं हॉस्टल में रहेगा.'

घर में सन्नाटा सा खिंच गया. हालांकि मेज़र की बात माहौल के मुताबिक सही थी. कुछ ही महीनों में बाबूजी ने अपना परिवार बिखरते देखा. चिंटू हॉस्टल चला गया और उर्मि की शिमला में लैक्चररशिप लग गयी. यों टुकड़ा-टुकड़ा बिखरकर ज़िंदगी भले ही एडजस्ट हो गयी थी पर मन के टुकड़े कैसे जुड़ें?

पूरा साल गुज़र गया. लेकिन सब कुछ इतना साफ़ याद है जैसे कल ही उसने हादसे की ख़बर पायी हो. बस वही आख़िरी स्पर्श, बाहों की वही आख़िरी गर्मी उर्मि के अहसासों में आज भी ज़िंदा है. कई बार बाबूजी ने, विवेक

२३ नवंबर, जबलपुर, एम. ए. (हिंदी, इतिहास), बी. एड., पत्रकारिता में बी. ए.

: प्रकाशन :

बहके बसंत तुम, बहते ग्लेशियर, यहां सपने बिकते हैं, प्रेम संबंधों की कहानियां (कथा संग्रह). मालवगढ़ की मालविका, दबे पांव प्यार, टेम्स की सरगम, हवा में बंद मुट्ठियां (उपन्यास). मुझे जन्म दो मां (स्त्री विमर्श), फागुन का मन (ललित निबंध संग्रह), नहीं अब और नहीं (संपादित संग्रह), नीले पानियों की शायराना हरारत, (यात्रा संस्मरण).

: विशेष :

विभिन्न भाषाओं में रचनाएं अनूदित, पुस्तकों पर एम. फ़िल. तथा शाहजहांपुर की छात्रा द्वारा पीएच. डी., रचनाओं पर फ़िल्मांकन, कई पत्र पत्रिकाओं में स्तंभ लेखन व सामाजिक, मीडिया, महिला एवं साहित्यिक संस्थाओं से संबद्ध, प्रतिवर्ष हेमंत फॉउंडेशन की ओर से हेमंत स्मृति कविता सम्मान एवं विजय वर्मा कथा सम्मान का मुंबई में आयोजन.

: पुरस्कार :

आठ राष्ट्रीय एवं दो अंतरराष्ट्रीय साहित्य एवं पत्रकारिता पुरस्कार जिनमें महाराष्ट्र के गवर्नर के हाथों राजभवन में 'लाइफ़ टाइम अचीवमेंट अवार्ड' विशेष उल्लेखनीय है. 'मुझे जन्म दो मां' पुस्तक पर राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पीएच.डी. की मानद उपाधि. भारत सरकार अंतरराष्ट्रीय पत्रकार मित्रता संघ की ओर से प्रतिनिधि के रूप में १७ देशों की यात्रा.

ने चाहा था कि उर्मि शिमला की नौकरी छोड़कर वापिस लौट जाये क्योंकि जब भी हिमालय की चोटियां उसे दिखेंगी वह उसी हादसे में फिर-फिर डूबेगी पर वह नहीं मानी थी बल्कि सबको विश्वास दिलाती रही थी कि उसने प्रशांत की मृत्यु स्वीकार कर ली है और वह उस हादसे से उबर चुकी है. अब उसे चिंटू के लिए जीना है जो अपने पापा को बहुत मिस करता है. हालांकि वह हॉस्टल में अपने दोस्तों के बीच रमा रहता है जो एक तरह से अच्छा ही है.

दरवाज़े के बाहर बर्फ़ की मोटी चादर की सफ़ेदी उर्मि की आंखों में चुभने लगी. पल भर में कहां की कहां पहुंच गयी थी उर्मि. अब अक्सर ऐसा होता है... बर्फ़ गिरती है और उर्मि ख़ुद को दोहराने लगती है. प्रशांत आकर सामने खडे हो जाते हैं और वह दिल की धड़कनें टटोलने लगती है. भारी हिमपात में शिमला की सड़कें, ढलानें बर्फ़ से भर जाती हैं तो उसके अंदर भूचाल सा आ जाता है और वह ख़ामोश रोने लगती है मानो बर्फ़ के फाहे ताप पाकर धीरे-धीरे पिघल रहे हों. प्रशांत तो एक ही मौत मरे, पर वह रफ़्ता-रफ़्ता मर रही है. रातों को चौंक-चौंक पड़ती है... चारों ओर हिमालय की गहरी घाटियां, खाइयां और ब्लैक होल नज़र आते हैं. भयानक बर्फ़ीले झंझावात में बदन आरे सा चिरने लगता है. चमड़ी नीली पड़कर उधड़ने लगती है और वह मानो चीख़-सी रही होती है...' प्रशांत मत जाओ उधर, ब्लैक होल है उधर' और नींद खुल जाती है. गालों पर ठंडा–ठंडा महसूस होता है. हथेलियां फिराती है तो आंसुओं की चिपचिपाहट....कब रोयी? कुछ याद नहीं. हां सिर भारी है तो रोयी ही होगी. कहीं ब्लड प्रेशर तो नहीं बढ़ गया जो सिर इतना भारी है? ब्लड प्रेशर की दवा तो प्रशांत के जाने के साथ ही उसके जीवन का हिस्सा बन गयी थी.

उर्मि देख रही है आसपास के घरों में दूध पहुंचाकर तेजा फुर्ती से बर्फ़ की फ़िसलन पर उतरने लगा. चारों ओर देवदार और चीड़ की डालियां बर्फ़ के बोझ से झुक गयी थीं. ढलान की रेलिंग भी बर्फ़ से ढककर ग़ायब हो चुकी थी कि धीरे-धीरे फिर हिमपात होने लगा. हवा भी तेज़ चलने लगी... उर्मि दरवाज़ा बंद कर ही रही थी कि अचानक हलक सूखने लगा... चक्कर-सा आने लगा... सामने बर्फ़ ही बर्फ़ और तेज़ अंधड़... ब्लैक होल... बेहोश होते-होते वह चीख़ी — 'उधर मत जाओ तेजा...आगे ब्लैक होल है... लौट आओ तेजा....'

लघुकथा

मोगली गर्ल

✍ सुरेश सौरभ

लगभग दस बारह साल की एक लड़की जंगल से मिली, बंदरो सा उसका व्यवहार था. अस्पताल में चोटिल अवस्था में भर्ती कराया गया. उसके देखने वालों की कतारें लग गयीं. तमाम नेता-मंत्री उसे देखने आने लगे. उस अनाम लड़की का कोई न था. जब बड़े लोगों के साथ उसकी फ़ोटो अख़बारों में छपने लगी, तो उसके तमाम दावेदार पैदा हो गये. अब सरकार चक्कर में थी, कौन है इस मोगली गर्ल का असली वारिस. फिर सबके दावे खोखले निकलने लगे. वह सुधार गृह में रहने लगी. अब उस मोगली गर्ल की आंखें कुछ ढूंढ़ती रहतीं — वे मांएं जो निःस्वार्थ भाव से उसे जंगल में पालती थीं, ऐसी मांओ की उसे दरकार थी, आस थी. झूठे दावेदार, दौलत के प्यासे उसे प्यार क्या देंगे, जो प्यार उसे जानवर वर्षों से दे रहे थे काश वो इंसान भी दे पाते, यह आस लिये-लिये अक्सर वह बंदरों की यादो में खोयी रहती जिसे लोग मोगली गर्ल कहने लगे थे.

✉ निर्मल नगर,
लखीमपुर-खीरी- २६२७०१ (उ. प्र.)
मो. : ७३७६२३६०६६.

होश आया तो वह अस्पताल में थी. तेजा ने ही उसे अस्पताल पहुंचाया था और बाबूजी को अस्पताल से फ़ोन करवाया था. दौड़े आये थे वे. डॉक्टर से परामर्श के बाद वे उसे घर ले आये थे — 'ये क्या हाल बना रखा है उर्मि... अब मैं यहां तुम्हें एक पल भी नहीं रहने दूंगा.'

वह बाबूजी से लिपटकर रो पड़ी थी. बाबूजी फैसला नहीं कर पा रहे थे कि ब्लैक होल में फंसा कौन है... प्रशांत या उर्मि...?

✉ सी १/१ स्नेह नगर,
गवर्नमेंट क्वाटर्स,
गवर्नमेंट इंजी. कॉलेज के सामने,
औरंगाबाद–४३१००५.
मो. : ९७६९०२३१८८.
ई मेल : kalamkar.santosh@gmail.com

लघुकथा

बंदर

✍ अशोक भाटिया

मैं एक परिश्रमी और ईमानदार व्यक्ति हूं. कारखाने में काम करता हूं. थोड़ी-सी तनख़्वाह है, जिससे घर-परिवार ढ़ंग से नहीं चल पा रहा है. मेरा मकान टूट-फूट चुका है. मैं बीमार मां का इलाज कराना चाहता हूं. बेटी को ठीक-ठाक स्कूल में भेजने का मन है. लेकिन सब इच्छाएं दफ़न होती जा रही हैं.

मेरी हालत देख मेरे मित्र ने एक तरकीब बतायी. बोला – ''मैं तुम्हें मिट्टी से सोना बनाने की युक्ति बता सकता हूं.'' सुनकर मेरा मन चमक-चमक गया.

मित्र ने आगे कहा – ''मगर एक शर्त है.''

''कैसी शर्त?'' मुझे शंका हुई.

''यहां कि सोना बनाते समय तुम्हें बंदर के बारे में नहीं सोचना.'' मित्र ने गंभीरता से कहा.

मैं हंस पड़ा – ''यह भी कोई बात है.''

वह मुस्कुराया – ''तो ठीक है, किसी दिन आ जाना.'' कहकर मेरा मित्र तो चला गया, लेकिन मुझे तब से हर समय बंदर के ही ख़्याल आते हैं. यहां तक कि सपनों में भी बंदर मुझे गुर्राता हुआ दिखाई पड़ता है. इसलिए मैं सोना बनाने की युक्ति सीखने का साहस नहीं जुटा पाया. मेरा वह मित्र भी नौकरी पाकर दूर चला गया.

इस बीच मैंने अधिक परिश्रम करना शुरू कर दिया. ओवरटाइम करता हूं. कभी इतवार को दूसरी फ़ैक्ट्री में भी काम मिल जाता है. लेकिन महंगाई मुझसे भी तेज़ दौड़ने लगी है. जब-तब बंदर की तरह आंखें दिखाती मेरे सामने आ खड़ी होती हैं. आप ही बतायें, आटा-चावल-दाल भला किसके बिना गुज़ारा है? पिछले डेढ़-दो बरस में इन सबके भाव दो से तीन गुना तक बढ़ चुके हैं. सच मानिए, ये भाव न बढ़ते तो घर को अब तक सोना बना देता... पर अब अपने शरीर की मिट्टी से सोना कैसे पैदा करूं... तब बंदर सिर्फ़ ख़्यालों में था तो मिट्टी से सोना नहीं बना सका... अब तो बाज़ार जाता हूं तो खाद्य-वस्तुओं के पास बैठा बंदर मेरी तरफ़ घूरता नज़र आता है. मेरा थैला तक ले जाने की फिराक में लगता है... बंदर से मुझे दहशत होने लगी है...

✉ १८८२, सेक्टर १३, करनाल-१३२००१ (हरियाणा). मो. : ९४१६१५२१००

जब से गया न भेजी चिट्ठी

✍ शिवानंद सिंह 'सहयोगी'

जब से गया
न चिट्ठी भेजी
नहीं किया है बात 'नन्हकुआ'
मजबूरी का
वह मारा है
छोटी है औकात 'नन्हकुआ'.

पता नहीं किस
शहर गया है ?
रहता है किस गांव में
रहता है वह
बासा लेकर
या पीपल की छांव में
आज रात था लेकर आया
सपनों की सौगात 'नन्हकुआ'

छोड़ गया है
बेटा-बेटी-
बीबी झोपड़पट्टी में
माई आन्हर
बाप बिमरिहा
पंसारी की हट्टी में
पास किया है
छठवीं कक्षा,
फेल हुआ है सात 'नन्हकुआ'

अफ़वाहों की
हवा गरम है
रहता है बंगाल में
चाय बनाता,
चौका करता,
भरता जल गंगाल में
कोई कहता
वहां न रहता
चला गया गुजरात 'नन्हकुआ'.

'शिवाभा', ए-२३३, गंगानगर, मेरठ-२५०००१ (उ. प्र). मो.: ९४१२२१२२५५.

सरवन

डॉ. पूरन सिंह

किनके मरि गये देशु छुटतु है,
किनके मरे छुटे ससुराल,
किनके मरि गये घरू विगरतु है,
किनके मरे शोक हुइ जाये.

भैया के मरि गये देशु छुटतु है,
सारे के मरे छुटै ससुराल,
त्रिया के मरि गये घरू विगरतु है,
मैया के मरे शोक होइ जाये.

...और आज सरवन की वही मां मर गयी थी. नहीं रही थी मां अब. बिलखने लगा था किसी अबोध बच्चे के समान. कभी मां को देखता तो कभी भांय-भांय करते घर को देख रहा था. फिर अपने दोनों हाथों को देखने लगा था. दोनों हाथ खाली थे. सोच रहा था सब कुछ न होने पर भी मां थी तो दोनों हाथ भरे थे. मां थी और मां का साथ था. कोई हो न हो मां बनी रहती बस. जब सबने उसका साथ छोड़ दिया था तब सिर्फ़ मां ही तो उसके साथ रही थी. और... और, आज वह मां भी साथ छोड़कर चली गयी थी दूसरी दुनियां में जहां से कोई लौटकर नहीं आता. आंसू थे कि रुक ही नहीं रहे थे सरवन के.

शाम का धुंधलका धीरे-धीरे रात के अंधेरे में बदलने को व्याकुल था. माया चाची आ गयी थी घर में. दरअसल माया चाची चूल्हे की आग लेने आयी थीं सरवन के घर से. वे रोज शाम को आती थीं सरवन के घर आग लेने और उसी आग को ले जाकर अपने चूल्हे में रखतीं फिर चूल्हा जलाया करती थीं. माया चाची और सरवन की अम्मा आपस में सहेलियां ही नहीं थीं दोनों का मायका भी छिबरामऊ में ही था. लोग तो यह भी कहते हैं कि वे आपस में चचा-दाऊ की हैं. दोनों में ख़ूब प्यार था. सरवन उन्हें कभी चाची कहता था तो कभी मौसी. माया चाची ने ही सरवन के दुख-सुख में मां की तरह साथ दिया था.

घर में आवाज़ लगाती माया चाची ने जब देखा कि सरवन अपनी मां की चारपाई के सिरहाने बैठा अपनी मां का चेहरा निहार रहा है तो सकपका गयी थीं. 'का भयो लला जिजी ठीक तो हैं.' कहते-कहते सरवन के पास ही आ गयी थीं. और जब उन्होंने देखा कि सरवन की मां तो चली गयी तो सरवन से बोली थीं, 'लला जिजी तो गयीं अब नांय मिलिएं कबहूं.'

'मौसी, अम्मा कहां चली गयीं.' मानो कोई मासूम बच्चा चिड़िया के उड़ जाने पर पूछ रहा हो.

माया चाची कुछ नहीं बोली थीं. फूट-फूट कर रोने लगी थीं. सरवन अभी भी अपनी मां का चेहरा निहारे चला जा रहा था. माया चाची के फूट-फूटकर रोने से पास पड़ौस के लोग इकट्ठे हो गये थे.

'क्या हुआ... क्या हुआ', कहते हुए लगभग पूरा गांव ही आ गया था.

'जिजी नांहि रहीं.' रोते-रोत ही माया चाची ने सब को बता दिया था.

सब लोगां ने सरवन को घेर लिया था. सरवन कुछ नहीं बोल रहा था. शांत था. 'बेटा रोओ.. रोओ बाबू... तुम्हारी अम्मा नहीं रही.' सरवन की मां की उम्र की औरतें सरवन को रुलाने की कोशिश कर रही थीं. तब बड़ी देर बार सरवन की आंखों से कुछ बूंदें गिरी थीं.

'अम्मा चली गयी अब लौटकर नहीं आयेगी.' इतना ही बोला था सरवन. तब लोगों को लगा था कि अब सरवन

सामान्य हुआ है.

'बड़ी सेवा करी बेचारे ने.'

'बेटा होइ तो ऐसो होइ.'

'बेचारे ने रात-दिन में कोई अंतर नांहि समझो.'

'सचमुच को सरवन कुमार है.'

'कहां पैदा होत हैं ऐसे लाड़िका अबे.'

'लाइक बेटा है.'

'भगवान ऐसो बेटा सबै दे.'

'सबने त्याग दयो जिजी को लेकिन सरवन.... सरवन ने अपनी अम्मा के कारन सबै छोड़ि दओ.'

न जाने कितने लोग, कितनी बातें. सरवन शांत. मृत मां को ज़मीन पर रख लिया गया था. चूंकि रात घनी हो रही थी. इसलिए अंतिम संस्कार तो सुबह ही होना था. तब तक गांव के समझदार लोगों ने सरवन की बहनों और भाई तथा अन्य रिश्तेदारों को फ़ोन कर दिया था. जलेसरवाली बहिन तो आधी रात होते-होते आ गयी थी. शेष दोनों बहिनें सुबह तक आ जानी थीं. सरवन सबका प्रिय था इसलिए गांव वालों ने उसे अकेला नहीं छोड़ा था. दो-चार जने उसके पास रात-भर बैठे ही रहे थे.

बड़े भाई को फ़ोन किया तो पता चला कि वह तो महामायी माता वैष्णोदेवी के दर्शन के लिए रात ही निकले हैं. लौटा-फेरी की टिकिट है. पत्नी, बच्चे सभी गये हैं. बहुत संभव है मां की अंतिम यात्रा में भी शामिल न हो पायें.

अगले दिन दोनों बहिनें भी आ गयी थीं. रिश्तेदार भी आ गये थे. मां की अंतिमयात्रा चल दी थी. बड़े बेटे के न होने पर सरवन ने ही मां को आग दी थी. कहा भी था किसी ने, 'बड़े बेटे के हाथ से आग नहीं लिखी थी' तो तुरंत ही कोई बोल पड़ा था, 'उन्हें कोई हक़ भी नहीं था आग देने का. कभी पलटकर देखा भी था उन्होंने मां-बाप, भाई-बहिन को. अच्छा हुआ जो उनसे यह अधिकार भगवान ने छीन लिया.'

अंतिम संस्कार के पश्चात के अन्य आवश्यक क्रिया-कर्म-कांड पूरे करने के बाद धीरे-धीरे सब लोग और रिश्तेदार यहां तक दोनों बहिनें तक अपने-अपने घरों को लौट गये थे. रह गयी थी तो केवल जलेसरवाली बहिन. जलेसरवाली बहिन सरवन को बहुत चाहती थी. दरअसल दोनों थे ही 'तराऊपर' के.

अब मां नहीं थी तो सरवन के लिए भी कोई काम नहीं रह गया था. जलेसरवाली बहिन ही दिया बाती करती थी. खाना पास पड़ौस के लोग दे जाते थे. भाई को एक पल के लिए भी अकेला नहीं छोड़ती थी जलेसरवाली बहिन. पूरे दिन आये-गये की आवभगत करते-करते थक जाती थी बेचारी सो रात में लेटते ही सो जाती लेकिन सरवन को नींद नहीं आती थी. रात भर बैठा रहता था.

और ऐसी ही एक रात में बैठा-बैठा अतीत में झांकने लगा था या यह कहें कि अतीत ख़ुद आकर उसके सामने खड़ा हो गया था, ...

पांच भाई बहिन ही थे वे. दो भाई और तीन बहिनें. पिता बेहद मेहनती और ईमानदार. जूते बनाने का काम

१० जुलाई, १९६४, (कुरावली, मैनपुरी. उ. प्र.)
एम. ए. (अंग्रेज़ी-हिंदी) 'सत्तरोत्तरी हिंदी कहानियों में नारी' विषय पर पीएच. डी.

: प्रकाशन :

लगभग सभी छोटी, बड़ी और स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां, लघुकथाएं, कविताएं, यात्रा संस्मरण, लेख, साक्षात्कार प्रकाशित.

: पुरस्कार/सम्मान :

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां, लघुकथाएं आदि पुरस्कृत. विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित; ६०० से अधिक लघुकथाएं ९० से अधिक कहानियां और २०० से अधिक कविताएं तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनका प्रकाशन; उड़िया/मराठी/पंजाबी/बंगला/उर्दू आदि में विभिन्न रचनाओं का अनुवाद प्रकाशित.

: प्रकाशन :

दो कहानी संग्रह — 'मज़बूर' और 'रिश्ते' तथा तीन लघुकथा संग्रह — 'वचन', १०० लघुकथाओं का संग्रह तथा 'सुराही' एवं कविता संग्रह 'विद्रोह' प्रकाशित. कविता संग्रह — 'वृंदा' का संपादन. एक कहानी संग्रह और एक लघुकथा संग्रह प्रकाशनाधीन.

: संप्रति :

भारत सरकार में प्रथम श्रेणी अधिकारी.

करते थे पिता. भइया सबसे बड़े हैं. उसके बाद दो बहिनें फिर सरवन और उसके बाद जलेसरवाली बहिन.

बड़े भइया पढ़ने में खूब होशियार थे. पिता ने एक दिन घर में कहा था, 'सरवन तुमने आठ दज्जा पढ़ाई कर ली बेटा, अब हम में हिम्मत नांहि है कि तुम सबको पढ़ाए सकें. बेटा, बड़ो भैया पढ़ने में होशियार है. हम चाहते हैं कि वही पढ़े और आगे चलकर तुम सब की ज़िम्मेदारी भी वही देखे.'

तब बड़े भैया और तीनों बहिनें घर में ही थीं. बड़े भैया तपाक से बोले थे, 'पिताजी आप चिंता न करें मैं जल्दी से पढ़ाई पूरी करता हूं और पूरे घर की ज़िम्मेदारी भी निभाऊंगा.... पिताजी... मैं अकेला ही सब घर संभाल लूंगा. आप फिकर न करें.'

उस दिन पिता का सीना गर्व से चौड़ा हो गया था. मां ने बड़े भैया को ऐसे देखा था मानो पूरी कायनात में उसका वही एक सुघढ़ बेटा हो. दोनों बहिनें तो बड़े भैया पर बलिहारी जा रही थीं लेकिन न जाने क्यों जलेसरवाली बहिन कुछ उदास थी. वह तो शुरू से ही संवेदनशील रही है.

समय भागा मानो कोई पंख लगाकर उड़ा हो. पिता के कहने पर सरवन ने पढ़ाई छोड़ दी. दिल्ली चला आया था. बहुत छोटी उम्र थी. गांव के लड़के सिलाई करते थे उन्हीं के साथ हैल्परी करने लगा. ख़ुद ब्रेड और चाय पर रहता लेकिन चार पैसे बचाकर पिता के पास भेजता. पिता उन पैसों को बड़े भाई की पढ़ाई पर लगाते. सरवन को बार-बार याद आता... कैसे वह अपने गांव के लड़कों के साथ जिस फ़ैक्ट्री में काम करता था उसी फ़ैक्ट्री में रात को मशीनों को एक तरफ़ करके लेटने की जगह बना लेता. सभी लड़कों के साथ वह भी सो जाता. इतवार वाले दिन छुट्टी होती. सभी लड़के मौज मस्ती करने, घूमने और फ़िल्म देखने की ज़िद करते तो सरवन कोई बहाना बना देता. सभी लड़के उसे कंजूस कहते जिसका वह बुरा न मानता. हमेशा हंसकर टाल जाता लेकिन मन में कहीं कोई कचोट जाता था.

और इसी दौरान बड़ी वाली दीदी की शादी तय हो गयी थी. साथ ही बड़ी दीदी का होने वाला देवर भी ठीक-ठाक था इसलिए पिता ने उससे छोटी वाली की शादी भी उसके देवर से तय कर दी थी. एक ही मंडप पर दोनों बहिनों की शादी कर दी गयी थी. कर्ज़ हो गया था घर पर. अब जहां पिता पर काम का बोझ ज़्यादा पड़ने लगा था वहीं सरवन पर भी ज़्यादा काम पड़ने लगा. अब वह रात में भी ओवर टाइम लगाता और ज़्यादा से ज़्यादा पैसा अपने घर भेजने लगा. लेकिन इन सब बातों को पिता ने बड़े भइया को कभी भी नहीं बताया. बड़े भइया शहर से बाहर रहते थे. वहीं पढ़ाई करते थे. खूब मंहगे और अच्छे फ़ैशन के कपड़े पहनते. पिता ने उनसे एक दिन कहा भी था, 'रामजीवन तू चिंता मत करना. तू अपनी पढ़ाई पर ध्यान देना. बहुत बड़ा अफ़सर बन जा. समझ ले तेरे बाप की मेहनत वसूल हो गयी.'

...और हुआ भी यही था. बड़े भइया ने अथक मेहनत की. और दिल्ली में ही एम टी एन एल में बहुत बड़े अधिकारी बने. जिस दिन उनके अधिकारी बनने की ख़बर घर पर मिली थी. अम्मा-पिताजी के तो मानो पंख ही लग गये थे. जहां पिता ने दोनों हाथ उठाकर ऊपर वाले का धन्यवाद किया था, वहीं अम्मा ने गांव के ही पीरबाबा की मजार पर चद्दर चढ़ायी थी और घर में मंगल गीत भी करवाये थे.

अब सरवन ख़ुश रहता. भइया ने शुरू में घर पर खूब पैसे भेजे. पिता ने उन्हीं पैसों से कर्ज़ निकाला. और लगी–लगा में एक कमरा भी बना लिया था लेकिन सरवन ने काम करना नहीं छोड़ा. हां, अब वह हेल्पर नहीं रहा था. वह अब कटरमास्टर बन गया था. साथ ही साथ समझदार भी. तभी एक दिन पता चला कि भइया ने अपने ऑफ़िस में ही काम करने वाली किसी ब्राह्मण लड़की से चुपचाप शादी रचा ली. पिता ने सुना तो सन्न रह गये. जहां एक से एक अच्छे रिश्ते आ रहे थे वहीं, 'रामजीवन ये तूने क्या किया.' और उसी रात पिता को पैरालिसिस का अटैक पड़ गया. आधा धड़ निष्क्रिय हो गया था. अब पिता काम पर भी नहीं जा पाते थे. खटिया पकड़ ली थी. मां और जलेसरवाली बहिन उनकी देख-रेख में लगे रहते. पिता के काम न करने से घर में आर्थिक विपन्नता शुरू हो गयी. मां को लोगों के खेतों में मजूरी करनी पड़ रही थी. जलेसरवाली बहिन पिता की तीमारदारी में लगी रहती. पैसे तो ज़्यादा से ज़्यादा भेजता था सरवन लेकिन पिता के इलाज़ और घर ख़र्च में पूरा ही नहीं पड़ता था. मां खेतों में मजूरी करती है यह बात सरवन से बताने के लिए मना कर दिया गया था.

बड़े भइया ने धीरे-धीरे घर परिवार से संबंध रखने

ख़त्म कर दिये. एक दिन पता चला कि भइया ने दिल्ली में ही बहुत बड़ा घर बनवा लिया है. सच भी था वे ख़ुद बड़ी नौकरी तो करते ही थे भाभी भी अच्छी नौकरी में थी. दोनों जनों की तनख़्वाह से उनके सब काम सहज हो गये थे.

भाभी ब्राह्मणी थी लेकिन अच्छी थी. बुलाया भी था सरवन को अपने घर. असल में भइया–भाभी ग्रेटर कैलाश में रहते थे और सरवन लक्ष्मीनगर की झुग्गियों में रहता था. एक दिन सरवन, भइया-भाभी के घर गया था. वे भइया जिनके लिए सरवन ने अपना पूरा जीवन स्वाहा कर दिया था, सीधे मुंह बोले भी नहीं थे. उन्हें डर था कहीं रहने न आ जाये यहीं. भाभी ने खूब प्यार से खाना खिलाया था. प्यार दिया था लेकिन न जाने सरवन को कुछ कांटे सा खटकता था. वह रुका नहीं था. लौट आया था अपनी फ़ैक्ट्री में. फिर लग गया था काम धंधे में.

और तभी... तभी एक दिन ख़बर मिली कि पिता नहीं रहे. बिलख पड़ा था सरवन. 'तुम्हारी हर बात मानी... पिताजी और आज... आज तुम भी धोखा दे गये...' फ़ैक्ट्री में काम कर रहे साथियों ने ढांढस बंधाया था. सरवन ने अपने कपड़े-लत्ते समेटे और सुबह तक पहुंच गया था घर पर.

पिता की माटी रखी थी जिस पर मां और जलेसरवाली बहिन बिलख रही थीं. बेटे को देखकर तो मां ने तेज़-तेज़ रोना शुरू कर दिया था. बड़े वाला नहीं पहुंच पाया था. शिरडी वाले बाबा के दर्शन के लिए गया था. लौटकर आने में समय लगना था. सरवन ने ही अपने पिता को आग दी थी. सभी रिश्तेदार भी थे जिनमें बड़ी दोनों बहिनें भी थीं. बहनोई भी थे.

पिता के अंतिम संस्कार से लेकर उनके शांति पाठ तक सभी रिश्तेदार रहे. कुछ चले भी गये थे. शांति पाठ वाले दिन आया था बड़ा बेटा अपनी पत्नी और बेटे के साथ. आया क्या था पूरे समय अपनी पत्नी की ही देखभाल में लगा रहा था. पिता की मृत्यु पर दुख होना चाहिए था लेकिन शांति पाठ वाले दिन अपनी संपन्नता के बारे में बताता रहा था अपने दोनों बहनोइयों और रिश्तेदारों को. 'ग्रेटर कैलाश में बहुत बड़ा मकान बनवाया है. भई, हमने कहां बनवाया है यह तो सब मौसमी जी; अपनी पत्नी अर्थात मौसमी शर्मा की दयादृष्टि और बुद्धिमानी है वरना मेरे जैसे बुद्धू में कहां इतनी अक़्ल. अभी अक्तूबर में ज़िद कर गयी तो होंडा सिटी भी ले ली. उसी के लिए जाना पड़ा था साईबाबा का आशीर्वाद लेने.' तब तक बड़ी देर से सुन रहे सियाराम चच्चा बोल पड़े थे, 'लला हमाई जाति के लोग तो अच्छो काम करने के बाद बोधगया जात हैं या कछु लोग संकिसा, तू जू कहां साईबाबा के चुटियापे में पड़ो है.'

'सियाराम चच्चा धीरे बोलो. मौसमी जी सुन लेंगी. उन्हें बुरा लग जायेगा.' इधर-उधर देखकर बोले थे बड़े भइया.

'ए लला तू डर अपनी मेहरिया से. हम काहे को डरें.' सियाराम चच्चा खिसियाये थे.

'चाचा आप नहीं समझते. वे पंडिताइन हैं. हम छोटी जातिवाले लोगों के रीति रिवाज़ वे नहीं जानतीं. उन्हें बुरा लग जायेगा. चाचा वे फील कर जायेंगी.' कह भी रहे थे बड़े भइया और देख भी रहे थे कि कहीं ब्राह्मणी भाभी आ न जाये.

सियाराम चच्चा भी बड़े जिद्दी थे, 'ए लला हम तो जा जान्त है मेहरिया चाहे काऊ जाति की होई और आदिमी काऊ जाति को होये. वह हमेशा आदिमी की जाति से ही जानी जाती है. ...और तोय देख के ऐसे लगि रहो है कि तेरी जाति तेरी मेहरिया से ही होइ गयी है. ...ए लला तू का अपनी मेहरिया को गुलाम है.' इतना सुनकर आग बबूला हो गये थे बड़े भइया.

'अभी जाना है. चलो मौसमीजी. नहीं रहना एक पल भी अब यहां. ये छोटी जाति के लोग... इनकी बुद्धि भी छोटी.' और इतना कहकर अपना सामान बांध लिया था भइया ने. भाभी ने कहा भी था, 'ये ग़लत बात है ... अभी तो पिताजी ....'

भइया ने किसी की एक भी नहीं सुनी थी. सामान गाड़ी में रखा. बेटे को गोद में संभाला. 'मौसमीजी आ रही हो या नहीं.' भाभी ब्राह्मणी ज़रूर है लेकिन औरत का दिल है उनमें फिर भी क्या करती, चल दी थीं. दोनों बहिनों और रिश्तेदारों ने रोका भी था,' क्या बेटा बाप के शांति पाठ से उठकर जा रहे हो... सियाराम गांव के ही हैं. उनकी बात का बुरा क्या मानना. घर के किसी आदमी ने कुछ कहा हो तो बताओ.' मां भी रोयी थी. लेकिन न जाने क्यों जलेसरवाली बहिन ने नहीं मनाया था.

भइया ने एक न मानी थी. चले गये थे. और वह दिन है कि आज का दिन पलटकर नहीं देखा. धीरे-धीरे सब रिश्तेदार भी अपने-अपने घरों को चले गये थे. अब मां थी

और जलेसर वाली बहिन.

सरवन याद कर रहा था कि कोई उसे बता रहा था. उसे देखकर तो कोई भी कह सकता था कि वह पाषाण प्रतिमा-सा रात के अंधेरे में उकडूं बैठा था.

....मां और जलेसरवाली बहिन को अपने साथ दिल्ली ले आया था. तब उसकी शादी जलेसर में थोड़े ही न हुई थी. अब उसके सामने सबसे बड़ी समस्या थी बहिन की शादी की.

सरवन ख़ूब काम करता था. ओवरटाइम लगाता था. कुछ पैसे भी इकट्ठे कर लिये थे. मां और बहिन के साथ दिल्ली जैसे शहर में ख़र्च भी था. एक छोटी सी झुग्गी ले ली थी उसी में रहता था.

तभी एक दिन देवेन्द्र से बोला था. देवेंद्र उसके साथ ही सिलाई करता था. उसका घर जलेसर में था. वह खूब सुंदर और मेहनती था. उसके साथ दुख-सुख में रहा था. 'दोस्त आज आपसे एक बात कहना चाह रहा था. '

'बोलो.' देवेंद्र बोला था.

बोला कुछ नहीं था सरवन. देवेंद्र का हाथ पकड़कर फफक-फफककर रोने लगा था. देवेंद्र नहीं, समझ पाया था कि आख़िर क्या कहना चाह रहा है सरवन.

'मेरे दोस्त बता तो सही क्या कहना चाह रहा है. मुझसे कोई भूल हो गयी.... मेरे लायक कोई काम हो तो बताओ... मैं जान पर भी खेलकर दोस्ती निभाऊंगा.' देवेंद्र सच में उसका पक्का साथी था.

'छोटी' बस इतना ही बोल पाया था.

देवेंद्र सब समझ गया था. सरवन छोटीवाली अपनी बहिन की शादी देवेंद्र के साथ करना चाह रहा था.

देवेंद्र ने कहा भी था, 'सरवन मैंने उसे कितनी ही बार बहिन बोला है. ये तुम कैसी बातें कर रहे हो.'

कुछ नहीं बोला था सरवन. सिर्फ़ सूनी आंखों से उसे देखता रहा था. मानो कहना चाह रहा हो, 'मैं कुछ नहीं जानता.'

हथियार डाल दिये थे देवेंद्र ने अपने प्रिय मित्र के आगे. और एक दिन ऐसा भी आया जब देवेंद्र और छोटी की शादी हो गयी थी. बड़े भैया नहीं आये थे छोटी वाली की शादी में, 'उस परिवार से मेरा कोई नाता नहीं. ये झुग्गी–झोपड़ी वाले... साले... जिसे बहिन कहते हैं बाद में उसी से शादी ... छी.... छी...' भाभी ने चोरी से, छिपाकर

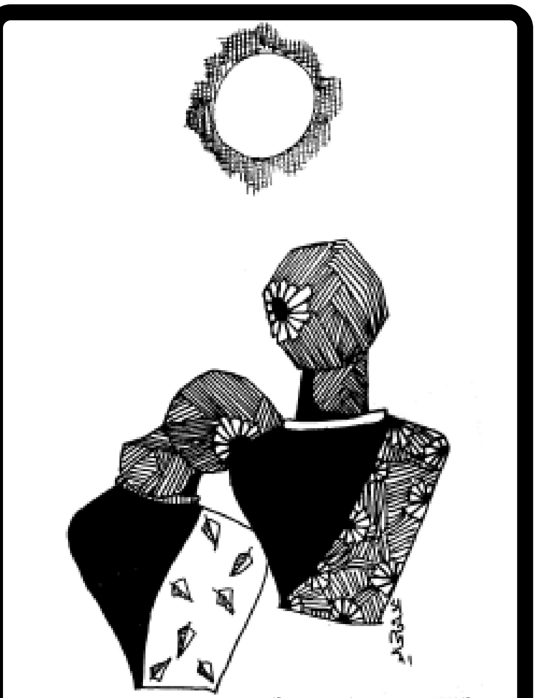

E-mail : anupriyayoga@gmail.com

बीस हजार रूपये भिजवाये थे जिन्हें जलेसरवाली बहिन ने यह कहकर, 'पैसा और भइया में बहुत फ़र्क होता हैं' वापिस करवा दिये थे.

देवेंद्र का परिवार जलेसर में रहता था. देवेंद्र के मां-पिता और परिवार वाले बहुत नेक और सच्चे लोग थे.

'बेटा तुमने एक ग़रीब का साथ दिया है. भगवान तुम्हारी हमेशा मदद करेगा.' कहकर देवेंद्र के पिता ने उसे गले लगा लिया था. और तभी से छोटी वाली को सरवन जलेसरवाली बहिन कहता है. और जलेसरवाली अपने भाई पर जान निछावर करती है तो उसका मित्र जो अब उसका बहनोई है अपने साले के लिए कुछ भी करने को तैयार रहता था. उसके हर दुख-सुख का साथी.

बड़ी दोनों बहिनें अपनी ओर से ही भइया के घर आती–जाती थीं. जिनकी वहां दो पैसे की भी कद्र नहीं थी. नौकरानियों की तरह काम करती थीं भइया के घर में और अपनी ससुरालों में आकर कहतीं, 'मेरा भइया बहुत पैसे वाला है. ब्राह्मणी ब्याहकर लाया है... उसके पास सब कुछ है कोठी, गाड़ी और... और...'

अब सरवन अकेला अपनी मां के साथ रहता था.

तीज त्यौहार पर जलेसरवाली बहिन आ जाती थी तो दो–चार दिन रहकर ही जाती. उसका पति उसे जानबूझकर छोड़ जाता था. बहुत नेकदिल और सच्चा इंसान है उसका बहनोई. हमेशा यही कहता सरवन.

पति की मृत्यु और बड़े बेटे की नीचता ने मां को जल्दी ही बूढ़ा कर दिया था. आंखों की रोशनी धीरे-धीरे कम होने लगी थी. सरवन दिन भर तो फ़ैक्ट्री में काम करता और शाम को आकर मां की सेवा सुश्रूषा में लग जाता. कई बार तो उसे खाना-सब्ज़ी भी बनानी पड़ती थी. मां को खाना खिलाने के बाद ही खाना खाता था सरवन. और रोज़ रात को मां के पैर दबाता.

एक रात मां के पैर दबा रहा था कि मां बोली थी, 'बेटा.'

'हा अम्मा.'

'मेरी एक बात मानिए.'

'तुम्हारी एक ही बात क्यों अम्मा सारी बातें मानूंगा.'

'तो अपनो ब्याह करिले बेटा. बहू आइ जइए तो घर परिवार संभल लिये और तू खूब कमइए और बहू हम दोनों की देखभाल करिए.' मन में छिपी पीड़ा मां के होठों पर साकार होने लगी थी.

'देख ले अम्मा कहूं ऐसो न होइ कि चूल्हे में से निकले और भाड़ में घुसि जाये.' न जाने कौनसी अशंका थी जो यह कह गया था सरवन.

'मैं कछु नाहि जान्त. तू ब्याउ करिले. मां ज़िद पर अड़ गयी थी.

सरवन ने हथियार डाल दिये थे.

और ठीक दो माह के भीतर अम्मा के ही मायके से सरवन की शादी हो गयी थी. बहू क्या थी हूर की परी थी. इतनी सुंदर कि छू लो तो मैली हो जाये. जहां मां ख़ुश थी वहीं सरवन को मानो बिन मांगी मुराद मिल गयी हो. बड़े भइया शादी में नहीं आये थे जिसका सरवन ने बुरा नहीं माना था.

बहू मां की ख़ूब सेवा सुश्रूषा करती. समय से खाना बनाती. अपनी सासु को नहलाती-धुलाती और रात में हाथ-पांव भी दबाती. सरवन को भी पूरा पत्नी का सुख देती. एक बार को लगा था कि शायद ख़ुशियां लौट आयीं हों लेकिन शायद भ्रम था यह. और वैसे भी ऊपरवाला जिसे दुख देता है, उसे देता ही चला जाता है तो फिर सरवन को कैसे छोड़ देता.

एक दिन जब सरवन काम से लौटकर आया तो उसकी पत्नी घर पर नहीं थी.

'अम्मा.'

'हां लला.'

'रेशमा कहां है.

'बेटा सब्ज़ी लेन गयी थी बज़ार. आइ रही होइए.' मां ने कहा था.

'कितनी दूर गयी है जो अभी तक लौटकर नहीं आयी' सरवन ने मां से कहा था.

'आइ जइए लला... .बहुत काम करती है बेचारी... हाथु नांहि रहतु है... आइ जइए.' मां बोली थी. लेकिन ... लेकिन... रेशमा नहीं आयी थी. एक दिन... दो दिन... तीन दिन और देखते-देखते एक सप्ताह बीत गया था. बाद में पता चला कि वह अपने गांव के ही किसी लड़के के साथ भाग गयी है. वह लड़का उसे गांव में भी चाहता था. जब रेशमा की शादी हुई तो वह भी दिल्ली आ गया था और रोज़ ही रेशमा से मिलता था.

मां ने जब सच जाना तो बिलख पड़ी थी. सरवन सन्न था. लेकिन अब कुछ संभव नहीं था. बड़े भइया ने सुना तो कह दिया था, 'साले नट कंजड़ हैं. औरत कैसे रखी जाती है क्या जानें. सरवन है ही इसी लाइक... रात दिन अम्मा - अम्मा घुसी रहती थी उसके... अपनी बीबी को तो कभी कुछ समझा ही नहीं. ठीक किया चली गयी... अब अम्मा को ही चाटे और उसे ही पुचकारे.... मुझे देखो कितना प्यार करता हूं अपनी मौसमीजी को.

सरवन ने सुना तो बुरा नहीं माना था. बस इतना ही कहा था, 'मां है तो सब कुछ है मेरे पास... रही बात रेशमा की तो अगर वह मेरी होगी तो मेरे पास लौट आयेगी और नहीं होगी तो जबरन कोई किसी को बांध सका है जो मैं बांध लूंगा.'

यथार्थ था या फ़िलॉसफी, कौन जाने. अब सरवन के पास उसकी मां थी जिसकी सेवा में लगा रहता था. लेकिन मां... मां कितने दुख सहेजती. पति की मृत्यु, बड़े बेटे की बेवफाई और अब छोटे बेटे सरवन का दुख... मां अकेले में रोती थी. और तभी एक दिन पता चला कि मां की आंखों की रोशनी बहुत कम हो गयी है. पास की चीज़ें भी नहीं दिखती थीं. इलाज़ भी करवाया था सरवन ने. बीमारी नहीं

थी जो ठीक हो जाती. मन में पीड़ा थी... वेदना थी जो आंखों पर छा गयी थी.

मां की आंखें ठीक नहीं हुई थीं.

मां कुछ भी नहीं कर पाती थी. अब सरवन को ही घर और बाहर दोनों जगहों पर काम करना पड़ता था. ख़ुद तो कई बार भूखा भी रह लेता लेकिन मां को कैसे भूखा रखता. उसकी कमाई कुछ कम ज़रूर हो गयी थी लेकिन मां की देखभाल पूरी थी. सरवन संतुष्ट था. तभी एक दिन माया चाची का फ़ोन आया था, 'लला.'

'हां चाची.'

'लला तुमाए छोटे भैया की शादी है.' माया चाची के स्वर में उत्साह और ख़ुशियां हिलोरें मार रहे थे.

'कब?'

'बसंतपाचें की.'

'अच्छा चाची.'

'अच्छा चाची का, तुम और जिजी दोनों आइ जाओ... लला कहि रहो थो मौसी नांहि आइए तो शादी नाहि करिएं... लला नेक जिजी को दिखाए ले जाओ बेटा... बड़ी यादि आति है जिजी की.' फिर माया चाची बोली थीं, 'नेक जिजी से बात कराए देते.'

'अम्मा, माया चाची का फ़ोन है तुमसे बात करनो चाहि रही हैं.' इतना कहकर सरवन ने मोबाइल अम्मा को दे दिया था.

अम्मा और माया चाची में क्या बातें हुईं सरवन क्या जाने. हां इतना ज़रूर था कि मां का चेहरा ख़ुशी से थोड़ा -सा चमक रहा था. और मां ख़ुश थी तो बेटे का ख़ुश होना लाजिमी था.

बाद में सरवन को मोबाइल देते हुए कहा था मां ने, 'अब कहां देशु देखि पइएं.'

'क्यों अम्मा अब क्या हुआ. हम ले चलेंगे तुम्हें माया मौसी के बेटे की शादी में... तुम बिल्कुल चिंता मति करो.' सरवन के लिए मां की ख़ुशी से बढ़कर तो कुछ था ही नहीं.

और दूसरे ही दिन, रात वाली बस से मां को अपने घर ले आया था सरवन. पूरा दिन लगा था घर की सफ़ाई बुहारी में. अपना घर तो आख़िर अपना ही था. पास पड़ौस वाले इकट्ठे होकर सरवन की मां को देखने आ गये थे. मां ख़ुश थी. गांव वाले ख़ुश थे और सबसे ज़्यादा माया चाची ख़ुश थी.

मां, माया चाची के बेटे की शादी में शामिल हो रही थी. रात को सरवन उसे छोड़ देता था माया चाची के घर. रात में गीत, मंगलाचार होते थे. तभी एक रात, मां को पेशाब करने जाना था सो अकेली ही चल दी थीं. सब औरतें मंगलगीत गा रही थीं कि... कि... मां को दिखाई हीं नहीं दिया था. बाथरूम से निकलते समय गिर गयी. उठ ही नहीं पायी थी.

सरवन को पता चला तो भागता हुआ पहुंच गया था. दोनों हाथों से मां को अपनी गोद में भरकर उठा लाया था. अगले दिन डॉक्टर के पास ले गया था. डॉक्टर ने देखा और एक्सरे के लिए लिख दिया था. मां को चलने में असुविधा हो रही थी. दूसरे दिन एक्सरे करवाया. एक्सरे की रिपोर्ट में स्पष्ट हो गया था कि मां का कूल्हा टूट गया है. अब मां कभी नहीं चल पायेगी. इस उम्र में आपरेशन भी सक्सेस नहीं है. बस यही दुख और शेष था.

अब मां बेड पर ही पड़ी रहती. सरवन अब काम पर भी नहीं जा पाता था. मां की देखभाल में ही लगा रहता. चार पैसे जोड़ पाये थे वे धीरे-धीरे ख़त्म होने लगे थे. जलेसरवाली बहिन को पता चला तो सब कुछ छोड़कर अपने पति देवेंद्र को लेकर रोती-बिलखती चली आयी थी. 'मेरे भइया की मुसीबतों का अंत कब होगा.' कहकर सरवन के कंधे से लगकर ख़ूब रोयी थी. देवेंद्र ने ही दोनों को चुप कराया था. तीन दिन दोनों घर पर रहे थे. तीनों दिन थोड़ा–सा अच्छा लगा था.

और चौथे दिन जब जलेसरवाली अपने ससुरे गयी थी तो कह गयी थी, 'भइया, अम्मा की ख़ूब अच्छी दवा करवाना. पैसों की चिंता मत करना. तुमने मेरे लिए इतना किया... अब मेरा भी...' और देवेंद्र की ओर देखा था. देवेंद्र ने झट से अपनी जेब से कुछ रुपये निकालकर सरवन के हाथ पर रख दिये थे और मुट्ठी को बंद कर दिया था. सरवन की आंखों में उपकार भरे आंसू तैर गये थे. देवेंद्र सिर्फ़ इतना ही बोला था, 'जीजा और दोस्त दोनों ही हूं मैं... सही तो यह है दोस्त पहले... जीजा बाद में.' रेत में पानी की बूंद-सा लगा था देवेंद्र उस दिन. और जलेसरवाली तो देवेंद्र पर गर्व कर रही थी. तभी सरवन से बोली थी, '...वीरन कभी अकेला मत समझना, मैं और ये हमेशा तुम्हारे साथ हैं.' इतना कहकर तेज़ी से क़दम रखने लगी थी मानो कोई पीछा कर रहा हो उसका. आंखें बह रही थीं उसकी.

बड़े भैया को मां के कूल्हा टूटने की बात जब बड़ीवाली बहिन ने बतायी थी तो बोले थे, 'क्या ज़रूरत थी माया के बेटे की शादी में जाने की... जब अंधी हो गयी हैं... दिखायी नहीं देता... तो ज़रूरी है स्वयंवर में जाना... और वैसा ही वह अपनी औरत तो रख नहीं पाया दूसरों की शादी में ज़रूर मस्ती करेंगे. मरने दो सालों को... ध्यान रहे. मेरे पास कोई नहीं आये पैसे मांगने. मरो जिओ... भाड़ में जाओ.'

इस बार बड़ीवाली बहिन को थोड़ा-सा बुरा लगा था और यह कहकर चली आयी थी, 'भइया ऐसे मत कहो.'

तो उसे भी बड़े भइया ने यह कहकर भगा दिया था, 'तुझे कौन बुलाता है यहां दुनियाभर की दूती कहीं की. चली आती है इधर की उधर लगाने... अब जाकर कह देना उससे ... कभी मत आना मेरे घर... चली आती है भिखारिन कहीं की.'

मां अब रात-दिन बिस्तर पर पड़ी रहती. एक दिन सरवन जब कपड़े को भिगोकर मां के शरीर की सफ़ाई कर रहा था तो मां की पीठ पर देखा था. बड़े से जख़्म हो गये थे. बेडशूल जिनसे मवाद और दुर्गंध आ रही थी. डॉक्टर से जाकर कहा तो डॉक्टर ने कह दिया था, 'यही डर था.'

'क्या मतलब डॉक्टर साब?'

'कुछ नहीं बस.'

बेडशूल में इन्फ़ेक्शन हो गया था. मां असहनीय पीड़ा और दर्द से कराहती रहती थी. सरवन बहुत सावधानी से मां के जख़्मों को धोता, पाउडर डालता, दवा लगाता था. मां की आंखें बरसती रहती थीं. जलेसरवाली याद से हर आठवें दिन अपने पति को लेकर आ जाती थी. पैसों की पूरी ज़िम्मेदारी जलेसरवाली के पति ने संभाल ली थी.

माया चाची पूरा साथ दे रही थीं, सरवन के दुख में.

और उस रात तो मां के जख़्मों में बहुत दर्द था. जख्म गहरे होते-होते अंदर पसलियों तक पहुंच गये थे. मां रात भर सो नहीं पायी थी. पूरी रात सरवन तड़पता रहा था मां के दर्द में. सुबह फिर गया था डॉक्टर के पास. डॉक्टर ने साफ़ कह दिया था. 'जख़्म भरेंगे नहीं... इसलिए दर्द तो सहना ही पड़ेगा.'

पूरा दिन इस सोच विचार में निकल गया था सरवन का कि क्या करे, क्या न करे और शाम होते-होते... मां ... मां... मां उसे छोड़कर...'

कि चीख़ पड़ा था, 'मां...' शायद अतीत से वापिस लौट आया था या फिर चीख़ ने अतीत को झटक दिया था. चीख़ इतनी तेज थी कि दूसरे कमरे में सो रही जलेसरवाली बहिन जाग गयी थी और भागकर सरवन के पास आ गयी थी.

'क्या हुआ भैया?'

'कुछ नहीं.'

अभी तक सोये नहीं' और उसने दीवाल पर लटकी घड़ी को देखा था. रात के साढ़े तीन बजे थे.

'नींद ही नहीं आयी... शायद नींद तो मां के साथ ही चली गयी है बहिन... मुझे तो कई बार लगता है कि मां मुझे बुला रही है.' सरवन बोल ही पाया था कि जलेसर वाली बहिन ने उसके होठों पर हाथ रख दिया था और फ़फक-फ़फककर रोने लगी थी. रात तो अब भी घनी थी.

२४०, बाबा फरीदपुरी, वेस्ट पटेल नगर,
नयी दिल्ली-११०००८.
मो.: ९८६८८४६३८८
ई मेल : drpuransingh64@gmail.com

ग़ज़ल

मिस्दाक़ आज़मी

मैं जब यादों का अलबम देखता हूं ।
वही मातम वही ग़म देखता हूं ।।

तुम्हें ये नाज़ के तुम खूबरू हो
मुझे ये ग़म के मैं कम देखता हूं ।।

वो प्यासे लोग याद आते हैं मुझको
कभी जब आबे- ज़मज़म देखता हूं ।।

मेरे आंसू मेरा चेहरा भिगो दें
तेरे दामन को जब नम देखता हूं ।।

ख़ुशी होती है जब दुख दर्द में भी
तेरी बातों में दमख़म देखता हूं ।।

उसे अब और कैसे देखना है
जिसे मिस्दाक हरदम देखता हूं ।।

ग्राम- जौमा, पो.-मेजवां, फूलपुर,
जिला-आजमगढ़- २७६३०४
मो. : ९७९३०३८१२८

महाठगनी माया

डॉ. लखन लाल पाल

कभी-कभी जीवन में ऐसी घटनाएं घट जाती हैं, जो हमारी दिनचर्या को अस्त-व्यस्त कर देती हैं. आप सोच भी नहीं सकते कि ऐसा मेरे साथ ही क्यों हुआ? यह भाग्य से हुआ या दुर्भाग्य से? जब हो जाता है तो कहना पड़ता है कि होनी को कौन टाल सकता है. लेकिन जब होनी अनहोनी हो जाय तो इंसान क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं. सब कुछ उसके वश के बाहर हो जाता है.

मेरी ज़िंदगी बड़े आराम से चल रही थी. इसे चलना ही कहा जायेगा क्योंकि मेरी आय सात हज़ार रुपये प्रतिमाह है. मैं इसे आरामदायक आय कहता हूं. वो अलग बात है कि दिनभर ख़ून-पसीना बहाकर इसे प्राप्त करता हूं. महीने की पच्चीस तारीख़ आते-आते वेतन के प्राण कढ़ जाते हैं. पच्चीस तारीख़ से अगले महीने की पांच तारीख तक उधारी से काम चलाना पड़ता है. ये दिन मेरे लिए बड़े खीझ भरे होते हैं. पत्नी-बच्चों को डांटना पड़ता है ताकि वे अपनी मांगों को सीमित रखें. ख़ुद परेशान रहता हूं और सुबह-शाम उन्हें भी परेशान करता हूं. पत्नी-बच्चों को समझाने के लिए उपदेशों का सहारा लेता हूं जैसे अधिकांश आमजन इन्हीं के सहारे अपनी सारी ज़िंदगी गुज़ार लेते हैं. पर मुझे आज तक समझ में नहीं आया कि ये उपदेश इतने ही भले हैं तो इनका असर मेरे परिवार पर क्यों नहीं हो रहा है. इस सबका निचोड़ तो यही दर्शाता है कि पैसा माई-बाप, पैसा भगवान, रिश्ते-नाते भी वही. पैसा आ जाने पर इनमें से किसी की ज़रूरत नहीं पड़ती है बल्कि उन्हें ही हमारी ज़रूरत महसूस होती है.

मेरे मन में एक धारणा बन गयी थी कि जीवन में इससे ज़्यादा मैं कमा नहीं सकता हूं और न ही कोई ऐसी आशा थी. पर मेरी यह सोच ग़लत साबित हुई. 'एक रात की दुल्हन' की तरह मैं भी कुछ दिनों के लिए धनाढ्य हो गया था.

८ नवंबर २०१६ की रात, आठ बजे भारत के प्रधानमंत्री माननीय नरेंद्र मोदी जी ने साहसिक कहें या दुस्साहसिक क़दम उठाकर पांच सौ और हज़ार रुपये के नोट चलन से बाहर कर दिये. 'तीस दिसंबर २०१६ तक कुछ सरकारी प्रतिष्ठानों में या पेट्रोल पंपों पर वे रुपये चलते रहेंगे. तीस दिसंबर तक वे रुपये बैंकों में जमा किये जा सकेंगे.' टी.वी. चैनल पर जब इस घोषणा को सुना तो हल्का–सा झटका लगा था. सोचा चलो सारे लोग हमारे बराबर आ गये. काला धन सब बेकार हो गया.

जब बैंकों में भीड़ देखी तो होश फ़ाख्ता हो गये. हाय, यह क्या हो रहा है? लगता था सारा देश बैंकों में घुसा जा रहा है. रुपये ही रुपये जमा हो रहे थे. दुनिया में अपनी चौधराहट क़ायम रखने वाले अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रंप की चुनाव प्रक्रिया को हम भूल गये. सारे न्यूज़ चैनल नोटबंदी पर केंद्रित हो गये. अन्य घटनाएं ख़बरें बनने को तरस गयीं. ख़बरों की ऐसी बेइज़्ज़ती शायद ही कभी देखने को मिले. यहां तक की बैंक की लाइनों में लगे लोग बेचारे धक्कम-धुक्की में या थक-हारकर अपने प्राण तक खो बैठे. इस मानवीय त्रासदी को न्यूज़-चैनल एक छोटी-सी लाइन में पूरी कर देते. चैनल नोटबंदी के नफ़ा-नुक़सान ही ज़्यादा दिखा रहे थे. आदमी मर रहे हैं, इस पर ख़बरें केंद्रित न हो सकीं. उलाहना–सा देकर न्यूज़-चैनलों ने अपने कर्तव्य की इतिश्री कर दी.

ग़रीब आदमी मर रहा था, ख़ूब मरें उनकी बला से. जब देशहित में इतना बड़ा काम हो रहा है तो हज़ार-पांच सौ मर भी जायें तो क्या फ़र्क पड़ता है. हमारा मिशन पूरा होना चाहिए. सरकार की तो छोड़ो, बेबस विपक्ष 'औड़यारे की बछिया' बना घूम रहा था. मरी जनता का हल्का-सा क्लू लेकर अपनी राजनीतिक पैंतरेबाजी से वोट बैंक को साधने में लगा हुआ था. सरकार उनसे दो हाथ आगे निकली- "हमारी आलोचना कीजिए, हम आलोचना सुनने को तैयार हैं." वाह! क्या दांव मारा सरकार ने — विपक्ष आलोचना ही तो करता है, फांसी पर थोड़े चढ़ाता है." इस दांव से विपक्ष औंधे मुंह गिरा. यह अलग बात है कि विपक्ष ने इस नूरा-कुश्ती में अपने-आपको पराजित न माना. विपक्ष निहत्था हो गया था. उसका आलोचना वाला हथियार भी सरकार ने झटक लिया. जो मंत्र सामने वाले को फूंका जाना है वही कहने लगे कि हम पर तो वही मंत्र फूंको, मजा आता है. गुनिया की स्थिति समझी जा सकती है. गुनिया असहाय और बीमार मस्त. बीमारी मिटे या बनी रहे, हमारा लोकतंत्र-ज़िंदाबाद रहना चाहिए.

इस नोटबंदी में मैंने अपने रुपये सेंतकर रखे थे. पत्नी-बच्चों ने इस महीने रुपयों के लिए चूं तक न की. वे जानते थे कि रुपये ख़त्म हो गये तो कहां से आयेंगे? साले भाटा भूंज-भूंजकर खाते रहे. जब स्वयं पर आन पड़ी तो सारी आवश्यकताएं गधे के सींग की तरह ग़ायब हो गयीं. बच्चे एकदम शांत थे जैसे सांप सूंघ गया हो. उनके मायूस चेहरे देखकर मुझे बहुत तरस आ रहा था कि इन बेचारों का क्या दोष? मैंने उन्हें पचास-पचास रुपये दे दिये कि जाओ खा-पी लेना. साले चटोरा ज़्यादा हैं. पर वे तो बहुत ही दग़ाबाज निकले, किसी ने एक पैसा ख़र्च न किया. सब अपने-अपने बस्तों में चांपें धरे रहे.

हमारे देश की आदत ख़राब है. कोई भी काम करो, कुछ को अच्छा लगता है, कुछ को ख़राब. अरे भाई, नोटबंदी अच्छा काम है तो सब अच्छा कहते और बुरा है तो सब लोग बहिष्कार करते. करते कुछ नहीं हैं बस अपनी-अपनी हांकने में लग जाते हैं. क्या करें? लंबी-चौड़ी हांकने का अधिकार भी तो हमें लोकतंत्र ने दिया है. विज्ञवर इसे मतभिन्नता कहते हैं. वे इसे बुरा नहीं मानते हैं बल्कि इससे लोकतंत्र को मज़बूती मिलती है. इस देश में तो कुछ भी आ जाये उसके कुछ न कुछ ग्राहक मिल ही जायेंगें. दुनिया की सारी विचारधाराएं यहां समान रूप से बहती हैं. कोई पागल भी संन्यासी के कपड़े पहनकर बैठ जाय तो लोग उसे भी पूजनीय बना देंगे. पूजते भी हैं. कभी-कभी कोफ़्त होने लगती है कि ये बातें तो सब कोई जानता है फिर मैं क्यों लिख रहा हूं? कहीं मैं पागल तो नहीं हो गया हूं. हां, मैं पागल हो गया था पर अब नहीं हूं. झूठ नहीं बोल रहा, मैं हक़ीकत में पागल नहीं हूं.

२५ दिसंबर २०१६ को इतवार था. इस दिन वैसे ही क्रिसमस की छुट्टी होती है पर इतवार पर आया. यह पवित्र त्योहार शनिवार को या सोमवार को पड़ जाता तो एक दिन की छुट्टी बढ़ जाती. ख़ैर, इस पर दिमाग़ खपाने से कोई लाभ नहीं है. क्रिसमस की छुट्टी यानी इतवार को मैं दिनभर खाली रहा. बाज़ार आने-जाने का कोई झंझट ही न था. दो दिन पहले मैंने आलू, बैगन और टमाटर लाकर रख

२ जुलाई १९६८, ग्राम व पो. इटैलिया बाजा, जिला-हमीरपुर (उ. प्र.)

: प्रकाशन :

हंस, लमही, समकालीन भारतीय साहित्य, युद्धरत आम आदमी, कथाक्रम, सृजन समीक्षा, कथादेश में कहानियां एवं कविताएं प्रकाशित. दैनिक जागरण पुनर्नवा में व्यंग एवं लेख प्रकाशित, बाड़ा (उपन्यास).

: बुंदेली में प्रकाशित रचनाएं :

बिरादरी की पूंच (बुंदेली कहानी संग्रह), बुंदेली बसंत, बुंदेली दरसन, बुंदेली अर्चन, स्पंदन तथा अथाई की बातें में कहानियां प्रकाशित.

: शोध प्रबंध :

जनपद जालौन का सारस्वत योगदान (अप्रकाशित) (बुंदेलखंड वि. वि. झांसी)

दिये थे. भूंजे जाव, खाये जाव. सब्ज़ी ख़ूब सस्ती थी. किसानों का माल बाहर नहीं जा पा रहा था, कोई ख़रीदने वाला ही नहीं था. सस्ती सब्ज़ी-भाज़ी ख़रीदकर मैं आनंद का अनुभव कर रहा था.

दिन भर पड़े-पड़े देह अकड़ गयी थी. इस साल हाड़ कंपा देने वाली ठंड नहीं पड़ी. नोटबंदी ठंड को भी लील गयी थी, या यूं कहें कि जितने लोग ठंड में मरने चाहिए थे उतने नोटबंदी ने मार लिये. अब ठंड के लिए क्या बचा? घंटा... इसी से इस साल वह बिदकी-बिदकी रही.

मैंने सर्दी वाले कपड़े पहने और बाहर घूमने निकल पड़ा. मेरा मकान शहर के बाहर एक छोटी सी बस्ती में है. अभी वहां पंद्रह-बीस मकान ही बने हैं. पर बने बहुत दिनों से हैं. बिजली, सड़क, पानी से पुरखे त्रस्त रहे, मैं भी उन्हीं का अनुसरण कर रहा हूं. शहर के बाहर बने मकानों में बिजली, सड़क की क्या ज़रूरत, यही सोचकर नगरपालिका ने ध्यान तो दिया पर कार्य न करवाया.

हरे-भरे खेत मुझे आकर्षित कर रहे थे. मैं उस हरेपन में खोने लगा. दिन ढलते ही ठंडक बढ़ने लगी थी फिर भी यह ठंडा मौसम मुझे सुकून पहुंचा रहा था. मैं खेतों की मेड़ पर बैठा नोटबंदी से परेशान लोगों का विश्लेषण करने लगा. अन्य विषयों पर भी मैं सोचता रहा. अपने स्तर से उसे अच्छे-बुरे के खांचे में रखता रहा.

रात दस बजे मैं घर की ओर लौट रहा था. मैंने देखा, एक चार पहिया गाड़ी रोड से उतरकर थोड़ी दूर पर झाड़ियों के पास खड़ी हो गयी. उस गाड़ी को देखकर मुझे वितृष्णा-सी हुई. मैं समझ गया था कि यह 'आउटडोर सैक्स' का मामला है. इससे पहले मैं कई बार ऐसे मामलों को देख चुका हूं. पर यह क्या? गाड़ी पांच-सात मिनट के क़रीब रुकी और मुड़कर फिर रोड पर पहुंच गयी. मैंने सोचा, शायद मुझे देखकर ही भाग खड़े हुए हैं.

लंबे डग भरता हुआ मैं वहां पहुंचा तो ऐसा आभास हुआ जैसे कोई बड़ी सी चीज़ पड़ी हो. मेरी नज़रें उसी पर टिक गयीं. गौर से देखा तो एक बोरा पड़ा था. बोरे में क्या है? कहीं लाश-वाश तो नहीं है. वहीं पड़ी लकड़ी से मैंने बोरे को हुतेलकर देखा. संशय मिट गया. मैंने उसे हाथ से छुआ. जिज्ञासा और बढ़ी तो टटोलकर देखने लगा. बोरे का मुंह खोला तो उसमें नोटों की गड्डियां भरी थीं. मैंने एक गड्डी निकाली और कुछ दूर ले जाकर मोबाइल की रोशनी में देखा. मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा. बोरे में हज़ार-पांच सौ के नोट थे जो चलन से बाहर वाली प्रक्रिया से छटपटा रहे थे. रुपये देखकर अब मैं, मैं नहीं रह गया था. यह कोई दूसरा हीरामन था. आदर्श विचारधारा का प्रबल समर्थक और थोड़े में ही संतुष्ट हो जाने वाला जीव पूरी तरह से विलुप्त हो गया था. अब मैं आम आदमी नहीं था, पलभर में विशिष्ट हो गया था. इस अदने से बोरे ने मुझे मालामाल कर दिया था.

मैंने बोरा उठाने की चेष्टा की पर वह न उठा. मुझे आज पता चला कि काग़ज के रुपयों में इतना वज़न होता है. टुकड़ों में तो न जाने कितने रुपये जेब ने निकाल दिये होंगे पर वे कभी भारी न लगे. रुपयों की ऊर्जा ने मेरी ताकत दोगुनी बढ़ा दी. मैंने बोरा उठाया और घुटने से धक्का देकर सिर पर रख लिया. गर्दन चरमरा उठी. बोझ के मारे गर्दन बैठी जा रही थी. मैंने उसे सिर से पीठ पर सरका लिया. वज़न से पीठ झुक गयी थी. सर्दी में भी शरीर पसीने से तर हो गया था.

मैंने आम रास्ता छोड़ दिया और ऊबड़-खाबड़ रास्ता पकड़ लिया. रास्ते भर यही सोचता रहा कि किसी से सामना न हो. मैं जानता था कि इस समय लोग अपने-अपने घरों में दुबके होंगे. अगर वे टट्टी-पेशाब के लिए बाहर निकल आये और मुझे इस हालत में देख लिया तो क्या जवाब दूंगा? दिमाग़ इसी जवाब को खोजने में लगा रहा तब तक घर आ गया. सांकल खटखटाते ही पत्नी ने किवाड़ खोल दिये. पीठ पर लदे बोरे को देखकर पत्नी चिल्ला पड़ी — ''क्या उठा लाये? अंट का मूसर तुम्हें बहुत औरता है.''

उसकी बकवास को अनसुना करके मैं अंदर वाले कमरे में घुस गया. पत्नी उत्सकुतावश मेरे पीछे चली आयी. मैंने बोरा उलटकर नोटों की गड्डियां कमरे में फैला दीं. पत्नी आश्चर्य से मुंह बा गयी. कहां से लाये इतने रुपये? मैंने उसे झिड़का — ''चुप! रास्ते में इन्हें कोई फेंक गया, मैं उठा लाया.''

मैं गड्डियां गिनने लगा. ख़ुशी के मारे मेरी चीख़ निकल गयी. पूरे एक करोड़ थे. माथे पर पसीना चुहचुहा आया. बच्चे गहरी नींद में सोये हुए थे.

''इतने रुपये कहां रखेंगे?'' मारे घबराहट के पत्नी की आवाज़ कांप उठी — ''ये नोट बंद हो चुके हैं और पुलिस कुत्ते की तरह इन्हें सूंघ रही है.''

"औरत जात कभी चुप नहीं रह सकती है." मैंने उसे झिड़का.

इस झिड़की की सच्चाई को क़बूलकर वह कुछ देर के लिए चुप्पी साध गयी.

"अब!" मैंने माथे का पसीना पोंछा — "नोटों को कैसे ठिकाने लगाया जाये, चिंतन प्रक्रिया तीव्र हो उठी. नोटों की गर्मी मस्तिष्क में भर गयी —"बैंक खाते में जमा कर आऊंगा."

"वे पूछेंगे कि इतने रुपये कहां से आये तो क्या जवाब दोगे?"

"कह दूंगा मेरी कमाई के हैं."

"कैसे कमाये, और अभी तक घर में क्यों रखे रह?" पत्नी मेरे सवालों पर चढ़ बैठ रही थी.

"पुलिस जब मुताएगी तब मुताएगी, तू मुझे अभी मुता दे." मैं उस पर बुरी तरह से खीझ उठा — "इतने सवाल तो बैंक वाले न करेंगे जितने तू कर रही है. मैं सारे रुपये तेरे खाते में जमा कर दूंगा. तू अच्छे से जवाब दे लेगी."

"तुम्हें अपने खाते में जमा करने हों तो कर दो, मैं अपने खाते में जमा न करने दूंगी." पत्नी ने स्पष्ट मना कर दिया.

"मैं चाहे जेल चला जाऊं... एं...." मैंने उसे क्रोध से देखा — "फांसी पर चढ़ा दे."

मुझे पूरी रात नींद न आयी. इतने रुपये कैसे ठिकाने लगाऊंगा? मैं इन रुपयों का करूंगा क्या? इसी गुणा-भाग में मैं करवटें बदलता रहा. मेरा दिमाग़ घूम रहा था — "पहले तो मकान का ऊपर वाला खंड बनवाऊंगा और पूरे मकान में संगमरमर बिछवा दूंगा. दो-चार प्लॉट ख़रीदकर डाल दूंगा. शेष बचेंगे वे बैंक में डाल दूंगा. उसके ब्याज से महीना बंधवा लूंगा. सरकारी कर्मचारी जैसी पेंशन मिलेगी. वाह री नोटबंदी! तेरी जय हो. निकम्मी सरकारों ने तो एक धेला तक न दिया. तूने मुझे मुफ़्त में एक करोड़ दे दिये. नोटबंदी न हुई होती तो जीवन में कभी इतने रुपये देखने को न मिलते. अब आराम से जीवन कट जायेगा. न हाय-हाय, न किल-किल. इस धरती पर जन्म लेना सफल हो गया. ग़रीब होते हुए भी मैंने अपने-आपको कभी ग़रीब नहीं समझा, बस भ्रम में जीता रहा. आज वह भ्रम भी दूर हो गया. अब साली ग़रीबी जूतों के नीचे होगी.

मेरा दिमाग़ स्थिर नहीं था — "अभी ये रुपये, रुपये कहां हैं. ये तो रद्दी काग़ज़ के टुकड़े हैं. बिना पारस के छुये लोहा सोना नहीं बनता है. यही हाल इन नोटों का है. बैंक की मुहर लगे बिना ये रुपये, रुपये न कहलायेंगे. आज बैंक का महत्व समझ में आ रहा था. पांच सौ और हज़ार के नोट अहल्या की तरह शापित हो चुके थे. राम के स्पर्श के बिना उनका उद्धार संभव न था. सोचा ढाई लाख रुपयों की छूट है, इतने तो बैंक में जमा किये ही जा सकते हैं. पर शेष रुपयों का क्या होगा? फुटकर रुपये जमा करना रक़म बिगाड़ना होगा. जब ऊपर वाले ने छप्पर फाड़कर दिया है तो उसका सही उपयोग तो होना ही चाहिए. कहीं जुगाड़ लगाऊंगा. बैंक का पिछला दरवाज़ा तो खुला है, कमीशन देना पड़ेगा, दे दूंगा, कौन बाप की कमाई है." मैं आगे की ओर क़दम तो बढ़ाता पर हिम्मत जवाब दे जाती. बैंक मैंनेज़र वैसा न निकला जैसा मैं समझ रहा हूं तो मुश्किल में फंस सकता हूं. क्या पता पुलिस को ख़बर करके मुझे पकड़वा दे तो फालतू में जेल हो जायेगी. वैसे दस लाख रुपये तो अपने परिवार में ही खपाये जा सकते हैं. लेकिन मन वहीं अटक जाता था कि वे आय के बारे में पूछेंगे तो क्या जवाब दूंगा? वैसे जवाब दिया जा सकता है कि यह मेरी पैतृक संपत्ति है.

मैं तीन दिनों तक काम पर न गया. उसी माया पर नाग बनकर बैठा रहा. दिमाग़ में क्षण भर के लिए चैन न था. तीन दिनों से पलकें न झपकी थीं. आंखें सुर्ख़ लाल हो गयी थीं. नींद लेने की कोशिश करता तो नोटों की गड्डियां सामने लहराने लगतीं. वे सोने ही नहीं दे रही थीं. मैं ख़ुद में इतना सतर्क था ताकि किसी को इसकी भनक न लगे. भनक लग गयी तो क्षण भर में पुलिस यहीं दिखायी देगी. मुहल्ले का भी कोई व्यक्ति नहीं चाहेगा कि मैं करोड़पति बनूं.

इसी जद्दोज़हद में मैंने बैग में कुछ नोटों की गड्डियां भरीं और बैंक की ओर चल दिया. डर था या कुछ और, मैं कुछ दूर से वापस लौट आया. मुझे लगा जैसे मैं डरने लगा हूं, पर मैं डरपोक तो था ही नहीं. फिर सोचा कि शायद धनमाया मनुष्य को डरना सिखा देती है. जमा की अंतिम तारीख़ के मात्र दो दिन शेष रह गये थे. दो दिन बाद बैंक वाले भी ये रुपये जमा न करेंगे. समझ नहीं आ रहा था कि इन कागजों को रुपयों में कैसे तब्दील करूं? मित्रों का

(शेष पृष्ठ –२८ पर देखें.)

भीतर का आदमी

गोवर्धन यादव

दुनिया का सबसे जटिल और उबाऊ कोई काम हो सकता है तो वह है किसी का इंतज़ार करना. इंतज़ार करता आदमी ठीक उस सुप्त ज्वालामुखी की तरह होता है जिसके अंदर विचारों का लावा दहकता रहता है, तरह-तरह की तरंगें-लहरें उठती रहती हैं और जब सहनशीलता की सारी हदें पार हो जाती हैं तो अचानक फट पड़ता है.

इन दिनों अमरकांत के मन के अंदर इंतज़ार का एक ज्वालामुखी अंदर ही अंदर सुलग रहा था. वह हैरान और परेशान है कि सुनीता अब तक क्यों नहीं लौटी? जबकि उसे आज दस बजे घर पहुंच जाना चाहिए था. इस समय दिन के ग्यारह बज रहे हैं. इंतज़ार करते-करते उसकी आंखें पथराने लगीं और मन के आंगन में शंका और कुशंकाओं के ज़हरीले नाग फ़न उठाये बिलाबिलाने लगे थे. जाने से पूर्व उसने कहा भी था कि एस. एम. टी. की बस से रवाना होगी, जो ठीक पौने दस बजे यहां पहुंच जाती है. कहीं ऐसा तो नहीं कि बस कैंसिल हो गयी या फिर उसका टायर पंक्चर हो गया. कुछ तो हुआ है, अन्यथा अब तक उसे आ ही जाना चाहिए था. अधीर होकर उसने फ़ोन घुमाया. वह जानना चाहता था कि उसे आने में विलंब क्यों हो रहा है अथवा उसका अभी लौट आने का मन नहीं हो रहा है. फ़ोन की घंटी बज रही थी लगातार. फिर फ़ोन पर एक मशीनी आवाज़ उभरती है 'सब्सक्राइबर इज नॉट आन्सरिंग'. उसे आश्चर्य हुआ कि आख़िर वह फ़ोन क्यों नहीं उठा रही है. फ़ोन रिचार्ज़ होने लिए स्वीचबोर्ड पर टंगा है या फिर संभव है कि फ़ोन इस समय उसकी पहुंच के बाहर है,या फिर वह अपना पर्स ले जाना भूल गयी? शायद इसलिए वह फ़ोन अटैंड नहीं कर पा रही होगी. उसने फिर से नंबर मिलाया और इंतज़ार करने लगा. इस बार भी वही जवाब सुनने को मिला. उसकी खीज बढ़ती जा रही थी. उसने अधीर होकर एस. एम. टी के संचालक संतु को फ़ोन लगाया और बस की लोकेशन जानना चाहा कि बस आयी भी अथवा नहीं. फ़ोन पर एक स्वर गूंजा — 'भाईसाहब... बस तो अपने निर्धारित समय पर कभी की आ चुकी. क्या कोई आने वाला था उससे?' 'हां भाई हां... मेरी पत्नी उस बस से आने वाली थी और वह अब तक घर नहीं पहुंची, बस उसी का इंतज़ार कर रहा था'. 'हो सकता है कि भाभीजी को बस-स्टैंड में आने में देर हो गयी हो और बस जा चुकी हो. (उसने समझाते हुए कहा) हर पंद्रह मिनट पर एक बस यहां के लिए रवाना होती है, हो सकता है कि वे किसी दूसरी बस से रवाना हो चुकी हों और थोड़ा इंतज़ार कर लीजिए'. एक सांत्वना देने वाला स्वर गूंजा था उस तरफ़ से.

तभी उसने महसूस किया कि उसके अंदर बैठा एक अजनबी आदमी उछलकर उसके सामने वाली कुर्सी में आकर धंस गया है. अमरकांत इस समय कपड़े बदलकर ज़ुराब पहनने के लिए झुका हुआ था. उसे सामने देखकर उसने पूछा — 'तुम यहां कैसे घुस आये, जबकि दरवाज़ा अंदर से बंद है? आख़िर तुम हो कौन, क्या नाम है तुम्हारा, कहां रहते हो और क्या चाहते हो मुझसे? उसने एक सांस में कई प्रश्न उछाल दिये थे.

'मुझे यह जानकर आश्चर्य हो रहा है कि तुम मुझे नहीं जानते जबकि मैं तुम्हारा ही अक्स हूं और तुम्हारे ही भीतर रहता हूं. मुझे आने-जाने के लिए कोई रोक नहीं सकता. मैं कहीं से भी तुम्हारे सामने प्रकट हो सकता हूं. मेरे भाई... सच मानो... मैं तुम्हारा सच्चा हमदर्द हूं. तुम्हारे बारे में सब कुछ जानता हूं. मैं यह भी जानता हूं कि तुम इस

समय अपनी बीबी सुनीता का बेसब्री से इंतज़ार कर रहे हो. ठीक कहा न मैंने.’ उसने अपनी आंखों को गोल-गोल नचाते हुए कहा.

अमरकांत की इच्छा हुई कि उसका टेंटुआ पकड़कर दबा दे ताकि हमेशा-हमेशा के लिए छुटकारा पा जाय क्योंकि वह किसी कुशल जासूस की तरह पिछले माह से उसका पीछा करता आ रहा है और उसकी हर छोटी-बड़ी बातों और हरकतों को जान जाता है. अपने ग़ुस्से पर नियंत्रण करते हुए उसने अहिस्ता से कहा — ‘बंद करो अपनी बकवास और यहां से उड़न-छू हो जाओ. वैसे ही मुझे ऑफ़िस जाने में विलंब हो गया है. मेरे पास बिल्कुल भी समय नहीं है कि मैं तुम्हारी बकवास सुनता रहूं. समझे तुम’. इतना कहकर उसने ताला जड़ दिया. ऐसा करते हुए उसे प्रसन्नता हो रही थी कि उसने उसे भीतर बंद कर दिया है.

बाहर निकलकर उसने अपनी मोटरसाइकिल निकाली. इस समय घड़ी में दिन के साढ़े ग्यारह बज चुके थे, जबकि उसका ऑफ़िस ग्यारह बजे से शुरू होता है. उसने जेब से मोबाइल निकाला और तत्काल ऑफ़िस मैनेज़र को फ़ोन लगाते कहा कि किसी आवश्यक कार्य के चलते उसे ऑफ़िस आने में विलंब हो गया है. वह ठीक बारह बजे से पहले ऑफ़िस पहुंच जायेगा और आधे दिन की कैज़ुअल-लीव के लिए आवेदन दे देगा.

उसकी मोटरसाइकिल ऑफ़िस की ओर बढ़ रही थी लगातार. तभी उसने महसूस किया कि वही अजनबी, लगभग हवा में तैरता हुआ उसके साथ चला आ रहा है. उसे देखकर उसका माथा ठनका. वह सोचने पर मज़बूर हो गया कि जिसे मैंने ताले में बंद कर दिया था, बाहर कैसे निकल आया? वह कुछ और सोच पाता कि उस अजनबी ने कहा — ‘दोस्त... बुरा मान गये? इसमें बुरा मानने जैसी कोई बात ही नहीं थी. मैं अब भी कह रहा हूं कि इंतज़ार-विंतज़ार छोड़ो. वह नहीं आने वाली. मैं तुम्हें कब से आगाह कर रहा हूं कि औरत जात पर विश्वास करना निरी बेवक़ूफ़ी है. पिछली बार भी तो ऐसा ही हुआ था और इस बार भी वही हो रहा है. लेकिन तुम हो कि उसे सती-सावित्री समझे बैठे हो.’

वह सरासर उसकी बीबी पर लांछन मढ़ रहा था. सुनते ही उसके क्रोध का पारा चढ़ने लगा था. अब वह ग़ुस्से में फट पड़ा था. उसने लगभग चीख़ते हुए कहा — ‘बंद करो अपनी बकवास... तुम कौन होते हो मेरी बीबी पर लांछन मढ़ने वाले?

१७ जुलाई १९४४;
मुलताई, जि. बैतुल (म. प्र.); स्नातक.

: प्रकाशन :

तीन दशक पूर्व कविताओं के माध्यम से साहित्य-जगत में प्रवेश. देश की स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का अनवरत प्रकाशन. आकाशवाणी से रचनाओं का प्रसारण. क़रीब पैंतीस कृतियों पर समीक्षाएं. महुआ के वृक्ष, तीस बरस घाटी (कहानी संग्रह), अपना-अपना आसमान (कहानी संग्रह) शीघ्र प्रकाश्य. एक लघुकथा संग्रह, शीघ्र प्रकाश्य. कुछ ई-बुक्स प्रकाशित.

: सम्मान :

देश-विदेश की २० से अधिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित.

: विशेष उपलब्धियां :

औद्योगिक नीति और संवर्धन विभाग के सरकारी कामकाज में हिंदी के प्रगामी प्रयोग से संबंधित विषयों तथा गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग द्वारा निर्धारित नीति में सलाह देने के लिए वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय में ‘सदस्य’ नामांकित; कई कहानियां, उर्दू, मराठी, राजस्थानी, उडिया, सिंधी भाषाओं में रूपांतरण.

: संप्रति :

सेवानिवृत्त पोस्टमास्टर; संयोजक राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, जिला इकाई छिंदवाड़ा (म. प्र.).

‘फिर तुम नाराज़ हो गये. सच्ची बात कहना बुरा है क्या. फिर एक हमदर्द झूठ का सहारा भला क्यों कर लेगा? वह कहकर गयी थी कि तीन दिन बाद लौट आयेगी. फिर क्यों नहीं लौटी? तुम बार-बार फ़ोन लगा रहे हो और फ़ोन का हरदम स्विच ऑफ़ रहना, क्या इस बात का संकेत नहीं है कि उसे तुम्हारी कोई फिक्र नहीं है. फिक्र रही होती तो फ़ोन लगाती, बतियाती और अपने न आने का कारण भी बतलाती. न तो उसने तुम्हारा फ़ोन उठाया और न ही पलट कर फ़ोन लगाया. मतलब साफ़ है. उसे अपनी नाटक कंपनी मिल गयी होगी और वह अपने किसी प्रेमी की बाहों

में महारानी बनी झूल रही होगी तभी तो...'

'मैंने कहा न! अपनी बकवास बंद करो अब और मेरा पीछा छोड़?'

'ठीक है, जैसी तुम्हारी मर्जी. मेरा काम तो तुम्हें आगाह करने का था, सो मैंने कर दिया. अच्छा तो अब मैं तुमसे बिदा लेता हूं.' कहकर वह अदृश्य हो गया.

ऑफ़िस पहुंचकर उसने टेबल की दराज़ से कोरा काग़ज़ निकाला. दरखास्त लिखी और चेंबर में घुसते हुए उसने ऑफ़िस मैनेज़र को दिया और अपनी सीट पर आकर जम गया.

अजनबी के द्वारा लगाये गये लांछनों से उसका दिल छलनी-छलनी हो गया था. बार-बार उसकी नज़रों के सामने सुनीता किसी अपराधी की तरह आकर खड़ी हो जाती. उसकी डबडबाई आंखें देखकर साफ़ जाहिर होता है कि वह अपराधी नहीं है. संभव है कि उसकी फ़ैमिली में कोई बीमार पड़ गया हो, यह भी तो संभव है कि वह ख़ुद बीमार पड़ गयी हो. यह भी संभव है कि उसका फ़ोन चोरी चला गया हो. निश्चित ही कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा, जिसकी वजह से वह अपने आने अथवा न आने के कारण नहीं बतला पायी. तरह-तरह के विचार उसे उद्वेलित कर जाते. उसे इस बात का तनिक भी ध्यान नहीं रहा कि इस समय वह ऑफ़िस में बैठा है और उसे अपना काम निपटाना चाहिए.

ऑफ़िस मैनेज़र ने प्यून भेजते हुए उसे तत्काल अपने कैबिन में हाज़िर होने की सूचना भिजवायी. 'अभी आता हूं.' कहकर वह अपनी जगह बुत बना बैठा रहा. उसे आता न देख ख़ुद मैनेज़र उसके चेंबर में जा पहुंचा. वह अपने ही बनाये हुए चक्रव्यूह में इतना अधिक उलझा हुआ था कि उसे पता ही नहीं चल पाया कि मैनेज़र साहब ठीक उसके सामने वाली कुर्सी पर विराजमान है.

'क्यों क्या बात है मिस्टर अमरकांत! जब काम करना ही नहीं था तो ऑफ़िस क्यों चले आये? शक्ल-सूरत देखकर तो लगता है तुम आज मैंटली डिस्टर्ब हो. घर जाओ और किसी डॉक्टर से चेकअप करवाओ. जब तक तुम ठीक नहीं हो जाते, तुम्हें ऑफ़िस आने की ज़रूरत नहीं... समझे', डांटते हुए वह उसके केबिन से बाहर निकल गया.

उसका मन किसी काम से जुड़ नहीं पा रहा था. उसने जेब से सिगरेट के पैकेट में से एक सिगरेट निकाली और माचिस चमकाते हुए उसे सुलगाया. गहरे कश खींचते हुए उसे कुछ राहत-सी महसूस हुई. यह उसकी पांचवी सिगरेट थी. अब तक वह चार सिगरेट फूंक चुका था. किसी तरह समय पास करते हुए वह पांच बजने का इंतज़ार करने लगा. पांच बजते ही उसने अपना केबिन छोड़ा. मोटरसाइकिल निकाली और घर की ओर बढ़ चला.

रास्ता चलते हुए उसने अपनी रिस्टवाच पर नज़र डाली. शाम के छः बजे थे. अभी से घर जाकर क्या करेगा? इस सोच के चलते उसने अपनी मोटरसाइकिल का रुख़ पार्क की ओर मोड़ दिया. गाड़ी एक ओर रखते हुए वह पार्क के भीतर जाकर एक बेंच पर बैठ गया. अभी पार्क में ज़्यादा भीड़ नहीं थी. इक्का-दुक्का बच्चे घसरपट्टी पर खेल रहे थे. चारों तरफ़ हरियाली छायी हुई थी. चारों तरफ़ रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे, जिन पर तितलियां मंडरा रही थीं. शीतल हवा बह निकली थी. यहां आकर उसे कुछ राहत–सी महसूस हुई, बावजूद इसके अफ़सर की डांट का असर अब तक कम नहीं हुआ था. मन अब भी कसैला था.

देर तक बैठे रहने के बाद उसने अपने घर की तरफ़ रुख़ किया. ताला खोला. घर में प्रवेश किया. अंदर अंधकार का साम्राज्य छाया हुआ था. उसने लाइट ऑन कर दी. पल भर में रोशनी चारों तरफ़ फैल गयी. जूतों को एक ओर उतारते हुए वह सीधे ड्राइंग रूम में जाकर एक कुर्सी में धंस गया. देखता क्या है कि वही अजनबी आदमी सामने वाली कुर्सी में बैठा हुआ उसे घूरते हुए मुस्कुरा रहा था. उसे देखते ही वह बमक गया था. 'तुम यहां... बंद घर में आख़िर तुम घुसे कैसे... निकलो... निकलो... इसी समय तुम घर के बाहर निकल जाओ... जीना हराम कर रखा है तुमने मेरा. नहीं निकले तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूंगा... जान से मार डालूंगा... समझे.' देखते ही वह लगभग फट-सा पड़ा था और वह बेशर्म अब भी मुस्कुरा रहा था.

'तुममें इतनी हिम्मत है तो मार डालो मुझे... मैं देखता हूं तुम अपने ही वजूद को कैसे मार सकते हो...लो मैं सामने खड़ा होता हूं... घोंट दो तुम मेरा गला और मार डालो मुझे... लेकिन एक बात याद रखना... मैं मर जाऊंगा लेकिन झूठ नहीं बोलूंगा. मेरी बात अब भी मान लो, वह नहीं आने वाली... नहीं आने वाली. तुम्हारी ज़रा सी भी फ़िक्र होती तो अब तक आ गयी होती... (कुछ देर बाद). क्यों... गला घोंट देने के लिए तुम्हारे हाथ उठ क्यों नहीं रहे हैं जबकि मैं ठीक तुम्हारे सामने खड़ा हूं... मैं जानता हूं

तुममें इतनी हिम्मत ही नहीं है कि तुम मेरा गला घोंट दो... अरे... जिसने कभी एक चींटी तक नहीं मारी वह किसी इंसान को कैसे मार सकता है... बुजदिल कहीं के... चलता हूं सुबह फिर मिलूंगा.' इतना कहकर वह घर के बाहर निकल गया था.

उस आदमी के चले जाने के बाद उसने राहत की सांस ली.

दिन भर की माथापच्ची के चलते उसका मिजाज अब तक गर्माया हुआ था. सिर में भारीपन अब तक तारी था. उसने अपने कपड़े उतारे. बाथरूम में जाकर शॉवर के नीचे जा खड़ा हुआ. शॉवर ऑन किया, शॉवर से शरीर पर पड़ने वाली शीतल बूंदें उसे अच्छी लग रही थीं. देर तक उसके नीचे खड़े रहने के बाद अब वह तरोताज़ा महसूस करने लगा था.

नहाने के बाद उसे भूख लग आयी थी. ऑफ़िस जाने के पहले उसने सुनीता की मनपसंद शिमला मिर्च की भरवां सब्ज़ी, चार परत वाले पराठें, फ़्राई चावल, दही और पापड़ तल कर रखे थे. उसे पक्का यकीन था कि वह दस बजे तक घर आ जायेगी, सो साथ बैठकर खाना खायेंगे. इंतज़ार करते-करते ग्यारह बज चुके थे और उसके ऑफ़िस का टाइम भी हो चला था. भूख लगभग समाप्त-सी हो गयी थी और वह सीधे ऑफ़िस चला गया था. सुबह का बनाया हुआ भोजन ठंडा पड़ चुका था. स्टोव में उसने खाना गरम किया. खाने बैठा तो खाया नहीं गया. 'परसी हुई थाली का अनादर नहीं करना चाहिए', उसे मां के शब्द याद आ गये. भारी मन से उसने किसी तरह दो पराठें हलक के नीचे उतारे और हाथ धो लिये.

खाना खाकर वह बिस्तर पर आकर पसर गया. बिस्तर पर आते ही सुनीता के साथ बिताये गये एक-एक पल जीवंत हो उठे. शरीर में एक उत्तेजना–सी फैलने लगी. सांस फूलने-सी लगी. आंखों में एक नशा-सा चढ़ने लगा था. खाली बिस्तर पाकर उसका सारा नशा पल भर में काफ़ूर हो गया. सब ओर से ध्यान हटाते हुए उसने बिस्तर पर ही पड़े-पड़े टीवी ऑन किया. बॉबी फ़िल्म चल रही थी. अब वह उसमें मजा लेने लगा था. फ़िल्म देखते-देखते कब वह नींद की आगोश में चला गया, पता ही नहीं चल पाया.

सुबह सोकर उठा तो पूरा शरीर भारी-भारी-सा लगा, किसी तरह उसने बिस्तर छोड़ा. फ़्रेश होने के लिए नहाया, तब जाकर कुछ अच्छा सा लगा. कुर्सी में धंसते हुए उसने फ़ोन उठाया. नंबर डायल किया, लेकिन निराशा ही हाथ लगी. फिर एक दूसरा विचार मन में आया कि सुनीता के पापा को फ़ोन लगाकर जानकारी ली जाय. 'ऐसा करना उचित नहीं होगा,' सोचते हुए फ़ोन रख दिया. अब उसने निर्णय ले लिया था कि वह सुनीता को लेकर ज़्यादा कुछ नहीं सोचेगा. उसे जब आना होगा तब आ आयेगी.

बाहर खटर-पटर की आवाज़ सुनकर सहसा उसका ध्यान खिड़की पर गया. वह दूसरा आदमी कांच में से भीतर तांक-झांक कर रहा था. 'शायद डर के चलते अब वह अंदर आने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा होगा,' उसने सोचा और वह किसी और अन्य काम में मशगूल हो गया.

अचानक उसके फ़ोन की घंटी टनटना उठी. उसने यह सोचते हुए लपककर फ़ोन उठाया कि सुनीता का ही फ़ोन होगा. लेकिन दूसरी तरफ़ से आती आवाज़ किसी मर्द की थी. कुछ कहने से पहले उन्होंने अपना परिचय देते हुए बतलाया — 'दामादजी... मैं दामोदर बोल रहा हूं... मंजु का पिता. शायद आप मुझे नहीं जानते. जानेंगे भी कैसे? आपका यहां आना काफ़ी कम ही रहा है न ! इसलिए आपसे मेरा परिचय नहीं हो पाया. मंजु और सुनीता बचपन की सहेलियां हैं. आप यह समझ लें कि दो जिस्म और एक जान हैं वे दोनों. जिस दिन सुनीता जाने की सोच रही थी, उसी दिन मंजु को डेलेवरी के लिए हॉस्पिटल में भरती किया गया. डॉक्टर ने बतलाया कि बच्चा उसकी अंतड़ियों में फंस गया है, अतः तत्काल ऑपरेशन करना होगा, सुनीता भी उसके साथ ही थी. ख़ैर किसी तरह डिलेवरी हुई. पोता पैदा हुआ लेकिन मंजु की ब्लीडिंग नहीं रुक पा रही थी. उसकी जान ख़तरे में थी, उसे तत्काल नागपुर ले जाया गया. मैं ठहरा एक अपाहिज, चल–फिर नहीं सकता. घर में अन्य कोई मेंबर न होने के कारण सुनीता को उसके साथ जाना पड़ा. क़रीब सप्ताह भर उसे वहां रुकना पड़ा. इतना सुनने के बाद भी आपके मन में एक प्रश्न ज़रूर उठ खड़ा हो गया होगा कि सुनीता ने आपको फ़ोन क्यों नहीं लगाया? मैं भी आपको फ़ोन पर इस बाबत सूचना नहीं दे पाया. हालात ही कुछ ऐसे बन पड़े थे जिसका बयान मैं नहीं कर सकता. अगर सुनीता न होती तो शायद ही मेरी बेटी की जान बच पाती — बेटा... मैं तुम्हारा गुनहगार हूं... मुझे माफ़ कर दो. अपनी व्यथा-कथा सुनाते हुए दामोदर जी फ़फक कर रो पड़े थे. उनके सिसकने की आवाज़ फ़ोन पर स्पष्ट रूप से आ रही थी. बेटा... तुम्हें अकारण इतने दिनों

तक कष्ट उठाना पड़ा, मुझे माफ़ कर दो. मेरा विश्वास है कि आप सुनीता को भी माफ़ कर देंगे.'

'इतनी बड़ी घटना घट गयी और आपने मुझे सूचित करना तक उचित नहीं समझा? काश मुझे इस बाबत सूचना मिल जाती तो मैं भी वहां चला आता... आपकी मदद करता... आपका सहायक ही सिद्ध होता.'

'आपकी शिकायत उचित है बेटे, लेकिन हालात ही कुछ ऐसे बन पड़े थे कि हम सबकी सांसें थम–सी गयी थीं. ज़िंदगी और मौत के बीच झूलती मेरी बच्ची यदि आज जीवित है तो उसका सारा श्रेय सुनीता बेटी को जाता है. मेरा आपसे पुनः अनुरोध है कि आप उसे माफ़ कर देंगे.'

इसके बाद कहने-सुनने को कुछ बचा ही नहीं था. हफ़्ता-दस दिन के भीतर दिल के आंगन में जमी कलुषित भावनाओं की काई पिघलकर, आंखों के रास्ते बहने लगी थी. सुनीता के प्रति उठे नफ़रत के ज्वारभाटे अब तिरोहित होने लगे थे. मन में एक अजीब शांति–सी महसूस होने लगी थी और सुनीता के प्रति प्यार के बादल उमड़-घुमड़कर उसके दिल और दिमाग़ पर छाने लगे थे. दूसरे ही पल, उसे उस भीतर के आदमी पर क्रोध आने लगा था. 'यह तो अच्छा ही हुआ कि वह उसकी बातों में नहीं आया वरना अनर्थ हो जाता. शंका की एक छोटी-सी चिंगारी उसके आशियां को जलाकर खाक कर देती,' उसने सोचा.

दिल और दिमाग़ पर छाया बोझ उतर गया था. अब वह अपने आपको तरोताज़ा–सा महसूस करने लगा था. उसने झट से शेव किया, नहाया और ऑफ़िस चला गया.

फ़ोन पर सूचना देते हुए सुनीता ने बतलाया कि वह लौट आयी है. बात को आगे बढ़ाते हुए शाम को जल्दी घर आने का आग्रह भी किया था उसने.

सुनीता के आगमन की बात सुनते ही उसके मन के सूने आंगन में बसंत उतर आया था, कोयल कुहकने लगी थी और लाखों फूल एकाएक खिल उठे थे. 'जी अच्छा जी' कहते हुए उसने फ़ोन काट दिया था.

पहाड़–सा भारी दिन कैसे कट गया, पता ही नहीं चल पाया. पांच बजते ही वह अपने केबिन से बाहर निकला. मोटरसाइकिल स्टार्ट की और अब वह किसी फ़िल्मी हीरों की तरह गीत गुनगुनाता, सीटी बजाता घर की ओर चला जा रहा था.

रास्ता चलते उसने सोचा — सुनीता ने उसे इतने दिनों तक खूब तड़पाया है, इंतज़ार करवाया है, क्यों न थोड़ा विलंब से घर पहुंचा जाय. इस ख़्याल के आते ही उसने अपनी मोटरसाइकिल की दिशा बदल दी. यहां-वहां के चक्कर लगाने के बाद अब वह पालिका-मार्केट में जा घुसा. उसने सुनीता की पसंद की तरह-तरह की मिठाइयां ख़रीदीं, मोगरे के फूलों का गजरा ख़रीदा, एक बुके लिया और लौट पड़ा.

उसकी चाल में एक विश्व विजेता की सी उछाल थी और मन किसी पंछी की तरह चहचहा रहा था. घर पहुंचते ही उसकी अंगुली कालबेल पर जा पहुंची. कालबेल के बजते ही जल-तरंग की स्वर-लहरी तरंगित होने लगी. सुनीता ने दरवाज़ा खोला. एक मादक मुस्कुराहट बिखेरते हुए सुनीता ने उसका स्वागत किया. अमरकांत ने गुलदस्ता देते हुए उसे अपनी बाहों में क़ैद कर लिया और ढेरों चुंबन उसके गालों पर जड़ दिये. बाहों के घेरे में दोनों देर तक अविचल खड़े रहे.

दामोदर जी से सारी हक़ीकत जान चुकने के बाद शिकवे-शिकायत की बात छेड़ना उसे उचित नहीं लगा. वह जानता था कि ऐसा किये जाने से हसीन रात ख़राब हो सकती है. किचन से उठकर दोनों बेडरूम में चले आये.

कमरे में प्रवेश करते ही सबसे पहले उसकी नज़र बिस्तर पर पड़ी. चादर पर सुर्ख लाल गुलाब की महकती पंखुड़ियां बिखरी हुई थीं. पूरे कमरे में फ्रेशनेस का छिड़काव कर दिया गया था और एक कोने में फ्रेगनेंट अगरबत्ती सुलग रही थी. मन ही मन वह सुनीता की तारीफ़ किये बिना न रह सका था.

बिना समय गवायें उसने उसे अपनी बाहों में उठाकर बिस्तर पर लिटा दिया और वह उस पर झुकने ही वाला था कि उसे भीतर के आदमी की याद हो आयी. अमरकांत नहीं चाहता था कि वह किसी विलेन की तरह बीच में टपककर क़ीमती पलों को बर्बाद कर दे. उसने देखा खिड़की पर पड़ा पर्दा खुला रह गया है, संभव है कि अंदर तांक-झांक करने लगे. उसका शक़ सही निकला. पता नहीं वह कब आ धमका था और पर्दे की ओट से अंदर झांक रहा था. वह चुपचाप से उठा. पर्दे को ठीक किया और कमरे में जल रही बत्ती बुझा दी. अब वह निश्चिंत होकर स्वर्गीय आनंद ले सकता था.

१०३, कावेरी नगर,
छिंदवाड़ा (म. प्र.)-४८०००१.
मो.: ९४२४३५६४००
ई मेल : goverdhanyadav44@gmail.com

महाठगनी माया.... **पृष्ठ २२ का शेष भाग.**

स्मरण हो आया. इस उम्र में मित्रों पर भरोसा कैसे करूं? वे भी तो घर-परिवार वाले हैं, रुपयों की उन्हें भी ज़रूरत होगी. इन रुपयों ने सारे संबंधों पर अविश्वास की गहरी खाई खोद दी थी. वे सलाह देंगे या ईर्ष्यावश पुलिस को सूचना दे देंगे, कहना मुश्किल है. वे कुछ करें या न करें, पर मेरा मन अविश्वासी हो गया था.

एक करोड़ की रक़म मामूली रक़म नहीं थी पर पत्नी जानती थी कि हमारे यहां इनकी कोई क़ीमत नहीं है. फिर भी वह इस धन को सफेद करने में अपना मगज खपा रही थी. उसे भी यह रक़म छोड़ी नहीं जा रही थी. यही नोट यदि नोटबंदी के पहले मिले होते तो आज करोड़पति होते. एक समय था जब हम पैसे के लिए परेशान रहते थे, आज पैसे के कारण परेशान हैं.

मैं अचानक बड़बड़ा उठता. कभी-कभी हाथ-पैर फटकारने लगता. यह निर्णय करना मुश्किल हो गया था कि मैं सोच रहा हूं या बोले जा रहा हूं. मेरी इस हालत से पत्नी सहम गयी थी कि कहीं कुछ अनहोनी न हो जाय.

मेरी हालत पत्नी से देखी नहीं जा रही थी. अब उसे रुपयों से मोह भंग होने लगा था. उसे मेरी चिंता सता रही थी. मेरा सूजा हुआ मुंह और लाल आंखें देखकर बोली — ''हमें नहीं चाहिए ऐसी माया जिसमें सुख-चैन न हो.'' मैं उसकी ओर एकटक निहार रहा था. पैसों के लिए हमेशा तंज कसने वाली को धन के प्रति ऐसी वितृष्णा देखकर मुझे हैरानी नहीं हुई बल्कि प्रसन्नता हो रही थी. उसकी सूनी आंखों ने मुझे सब कुछ समझा दिया था. मेरे मानस में 'माया महाठगनि हम जानी'' का अर्थ खुलता जा रहा था. पढ़कर अर्थ खोलने में और भुगतकर अर्थ समझने में भारी अंतर है, मैं यह जान गया था.

मैं एक निश्चय पर पहुंच गया था. उस निश्चय को डिगाने के लिए दिमाग़ में झंझावत मचले पर मेरा निश्चय हिमालय की तरह अपनी जगह पर अटल रहा.

आधी रात को मेरी आंखों में नींद भर गयी थी और मुझे बेहोशी-सी छाने लगी. मैं राजा मुचकुंद की तरह पलंग की गुफा में ढह गया.

मैं दोपहर को जागा तो पत्नी ने बताया कि सुबह रोड पर हड़कंप मचा हुआ था. मॉर्निंग वॉक पर आये लोगों ने पुलिस को इत्तिला कर दी थी कि सड़क पर बोरा पड़ा है. पुलिस की गाड़ियां सायरन बजाती हुईं सड़क पर दौड़ रही थीं. पत्रकार पुलिस वालों से न जाने कितने सवाल पूछ रहे थे. पुलिस उत्तर देने से कतरा रही थी. आप गहरी नींद में थे, मैंने नहीं जगाया.

''ठीक किया.''

मैं बड़े सुकून के साथ मुस्करा रहा था.

कृष्णाधाम के आगे
अजनारी रोड, नया रामनगर,
उरई, जि.-जालौन (उ.प्र.)- २८५००१
मोबाइल : ९२३६४८००७५.

लघुकथा

फुसफुसाहट

डॉ. नरेंद्र नाथ लाहा

दादी बहुत बूढ़ी हो गयी थीं. लंबे समय से बीमार थीं. स्वास्थ्य लाभ हो रहा था. पर यकायक स्वर्गवासी हो गयीं. किसी के कुछ समझ में नहीं आया कि ऐसे कैसे हो गया, पर मेरे कुछ-कुछ समझ में आ रहा था. जिस दिन मरी थीं उस दिन खिड़की के उस तरफ़ से उन्होंने बच्चों को बात करते सुन लिया था, ''पता नहीं बूढ़ी कब तक जियेगी?''

ग्वालियर (म. प्र.)

पाठकों/ग्राहकों से निवेदन

कृपया 'कथाबिंब' की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय फ़ॉर्म पर अपना नाम, पता, पिन कोड सहित अंग्रेज़ी में साफ़-साफ़ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

- संपादक

सहयात्री

✍ वंदना शुक्ला

रात में देर तक उन्नीस वर्षीय गुड्डी, साठ वर्षीय सास मालती देवी के कपड़े मुद्दतों पुरानी टीन की लाल फूल वाली नीली बकसिया में जमाती रही और मालती देवी वहीं कथरी पर बैठी टुकुर-टुकुर उसे ताकती रही. अगले दिन मालती को बस से तीरथ धाम के लिए निकलना था. इस सिकंदरा क़स्बे के ही रामस्वरूप के छोरे ने अभी-अभी नयी बस ''कसवाई'' थी तो रहवासियों को सस्ते में तीर्थ लिवा जा रहा था. ज़्यादातर उसमें आसपास के गांव खेड़ों के घर के बड़े-बूढ़े थे जिन्हें उनके बेटे ''मोक्ष प्राप्ति'' और स्वयं ''पुण्य कमाने'' भेज रहे थे. जो सधवा थे वो जोड़े से जा रहे थे और जिनका एक साथी बिछुड़ चुका था वो अकेले. आसपास के कस्बों के अपरिचित लोग सब मिलकर सत्तरह जने थे. दोपहर को जब मालती ने अपने बेटे से धीरे से कहा था ''रग्घू बेटा हम घर से कभी बाहर निकले नहीं. जहां भी गये तुम्हारे बाबूजी साथ थे. हमारे संग ''धाम'' जाने वालों को हम जानते भी नहीं. कैसे होगा? सब ग़ैर हैं...'' रग्घू ने शायद सुना नहीं था वो जल्दी-जल्दी कपड़े लेकर नहान घर में घुस गया.

बात बहू गुड्डी ने झट से लपक ली. ''अरे इस उम्र में क्या अपने, क्या ग़ैर? तुम्हें तो तीरथ जाना है जनम सुधारने. कोई रिश्तेदारी थोड़ा ही जुटानी है? वो तिलमिलाकर बोली थी, और फिर एक तरफ़ से मुस्कुराते हुए उसने मज़ाक किया था, ''वहां भी तुम्हारी उमर के अकेले जा रहे होंगे कर लेना किसी से दोस्ती. इस उम्र में दोस्ती का अपना अलग ही मज़ा होता है.''

छिः ...बहू के इस कटाक्ष को सुन भीतर तक सिहर गयी थी मालती.

नहान घर से निकलता हुआ रग्घू बोला — ''अम्मा, हो गयी सब तैयारी? तुम भी देख लो. कुछ और रखना हो तो. अरे गरम शाल वग़ैरा रख देना'' रघु ने आईने के सामने बाल बनाते हुए पत्नी गुड्डी से कहा.

''सब रख तो दिया है...'' गुड्डी खीझकर बोली.

''रग्घू बेटा हम ये कह रहे थे कि कभी हम तुम लोगन के साथ ही हो आते तीरथ. अभी अकेले कैसे जायेंगे?'' मालती ने सहमते हुए फिर एक बार कहा.

''का करें अम्मा तुम्हें हम ही ले जाना चाहते थे लेकिन देखती तो हो कितने जंजालों में फंसे रहते हैं. सबसे बड़ी दिक़्क़त तो छुट्टी की है. कोई सरकारी नौकरी तो है नहीं कि एक बार घुस जाओ तो फिर बिंदास छुट्टी भी मिलती है और ठसक से नौकरी करते हैं,'' कहकर वो अपने कमरे में चला गया.

गुड्डी को और मौक़ा मिल गया. उसने अपनी ज़ुबान के तरकश में से शब्दों के एक से एक ज़हर बुझे तीर सास के दिल पर फेंकने शुरू कर दिये.

''देखती नहीं हो बिलकुल कि पूत को आज छुट्टी वाले दिन भी हाड़ तोड़ने जाना पड़ेगा. बस शुरू हो गयी तुम्हारी बकर-बकर. उसके सामने अपने दुःखड़े खोल के बैठ गयी... भैया कैसी मां हो तुम?'' गुड्डी कमरे में झाड़ू बुहारते हुए बड़बड़ा रही थी. ''अब ख़र्चा पानी दे तो रहे हैं सब तुम्हें जाने को, फिर भी नख़रे. राम जी महाराज कैसा ज़माना आ गया है. हम जान जवान घर में सर खपा रहे हैं. तीन-तीन मोड़ियां हैं और अकेली जान कमाने वाला. इन्हें इस उमर में घूमने-फिरने को मिल रहा है तो... अपना पेट काटकर इन्हें तीरथ भेज रहे हैं... बताओ ज़रा इस कलजुग

में कोई बेटा करता है क्या मां बाप के लिए इतना खरच.'' कहती हुई गुड्डी अलगनी से कपड़े उतारकर तह करने लगी.

''नहीं वो बात नहीं.''

''तो क्या है?'' मालती सास की धोती लपेटकर एक तरफ़ जाने वाले कपड़ों के साथ रखती हुई बोली

''वहां तो सब अपने अपने जोड़ीदार हैं. हम अकेले हैं न...वो भी औरत जात? किसी को पहचानते भी नहीं. बोलने-बतराने की भी आदत नहीं है. कभी सिकंदरा के बाहर अकेले गये नहीं. कहीं घूमते-घूमते खो गये, रास्ता भटक गये तो तुम औरन को ही दिक्कत हो जायेगी.''

''अरे, ये ज़िम्मेबारी तो बस वाले की. पूरा चार हज़्ज़ार दिये हैं? हिम्मत रखो बस तुम जैसी पकी उमर की औरतें कहां खोयेंगी अम्मा... अजीब बात करती हो. (खो जाओ ऐसी क़िस्मत कहां... स्वर में यही भाव थे) और क्या रखना है बताओ जल्दी...''

''वो चश्मा की तनी टूट गयी है. दिखने में दिक़्क़त होती है. कितने दिन से कह रहे हैं, ज़रा ठीक करा देते... घर में तो चल जाता था पर...'' मालती ने डरते हुए कहा.

''अब ज़्यादा फैसन वाली तो बनो मत और ख़र्चा नहीं है हमारे पास. धाम पे जा रही हो कोई सिनेमा देखने नहीं कि दीदे नहीं होंगे तो काम नहीं चलेगा. भगवान तो पत्थर के हैं. वो क्या देखेंगे कि भक्तिन के पास आंख–कान ठीक–ठाक हैं के नहीं और फिर अंधी तो हो नहीं. इतना तो दीखता ही है...''

कहकर गुड्डी बत्ती बंद कर बड़बड़ाती हुई अपने कमरे में सोने चली गयी.

बाबूजी जब गार्ड की ड्यूटी से आते थे तो रात में बारह भी बज रहे हों तो जागती रहती थी मालती और उन्हें गरम रोटियां खिलाती थी. थका आदमी कभी–कभार चिड़चिड़ाता ही है. मजाल है जो कभी पलटकर जवाब दिया हो. हमारे भी तो दो-दो जवान ननदें, ब्याहने को छोड़ गये थे सास-ससुर. बाबू जैसे तेज़ मिज़ाज वाले पति के साथ रहकर भी कर्तव्य समझ सब गृहस्थी की ज़िम्मेदारी संभाली. अभी तक संभाल ही रही है...मालती ने करौटा बदला.

जानती है कि बहू गुड्डी जब से ससुर नहीं रहे उससे बहुत बुरा व्यवहार करती है और उसे कहीं भेजना चाहती है. कभी सोचते कहां हैं हम कि जिन संतानों के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर रहे हैं उन्हीं बच्चों पर एक दिन हम बोझ बन जायेंगे. अपने ही सब बेगाने से हो जायेंगे. मरते बने न जीते. मालती सोच रही थी. पढ़ी-लिखी ज़्यादा नहीं है तो क्या हुआ इतनी बुद्धि तो है ही उसमें कि कौन क्या सोच रहा है. वो तो बेटे रग्घू के कारण रह रही है वो इस घर में. और पोतियों के भी जिन्हें वो बेहद प्यार करती है. मालती की दुनिया तो अब घर की ये चार दीवारें हैं. कभी किसी ब्याह–शादी में कुछ देर को जाना भी हो तो घर भागने की लगती है. अब इतने दिन वो भी अपरिचितों के बीच अकेले कैसे ...''

सोचते–सोचते मालती ऊंघने लगी.

वो अनजान लोगों के साथ एक पहाड़ी के पास खड़ी थी. ऊपर पहाड़ की चोटी पर एक मंदिर दिख रहा है. वो लोग उस पर धीरे-धीरे चढ़ रहे हैं. मालती चढ़ते-चढ़ते हांफने लगी है. वो किसी का हाथ ढूंढ़ रही है सहारे को. पर सब अपने-अपने जोड़ीदारों के साथ हाथ थामे पहाड़ चढ़ रहे हैं. कोई पति–पत्नी एक दूसरे का हाथ थामे हैं तो कोई अपने जवान बेटे का. कुछ देर में उसने देखा कि वहां कोई नहीं है वो अकेली पहाड़ पर चढ़ रही है. रात हो गयी है.

बी. एससी., एम. ए , एम. न्यूज ., बी. एड.

: प्रकाशन :

पहली कहानी २०१० में हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिका ''वागर्थ'' (कोलकाता) से प्रकाशित. तदुपरांत तद्भव, पहल, कथादेश, हंस, परिकथा, पाखी, आउट लुक, जनसत्ता, दैनिक भास्कर, आदि में कहानियां प्रकाशित. ''उड़ानों के सारांश'' एवं ''काफ़िला साथ और सफ़र तनहा'' दो कथा संग्रह तथा ''मगहर की सुबह'' उपन्यास प्रकाशित. एक कथा संग्रह शीघ्र प्रकाश्य.

: संप्रति :

शिक्षिका

मो. : ९९२८८३१५११

पूरे पहाड़ पर सन्नाटा है. वो वहां से घबराकर नीचे देखती है. नीचे एक विशाल खाई दिखाई दे रही है. वो चिल्लाती है 'रग्घू ...रग्घू हम गिर जायेंगे. आ जाओ कहां हो तुम?' अचानक उसे लगता है कि ज़मीन डोलने लगी है और वो संतुलन खो तेज़ी से नीचे की ओर लुढ़कती जा रही है.

''क्या है क्या हो गया? क्यों चिल्ला रही हो?'' अचानक मालती की आंखें खुल गयीं. अरे ये तो सपना था. रग्घू पानी का गिलास लिये खड़ा था. ''क्या हुआ अम्मा डर गयी क्या?'' उसने हंसते हुए कहा.

गुड्डी बड़बड़ाती हुई कमरे से बाहर चली गयी. छुटकी शोर सुनकर रोने लगी थी.

''अम्मा, जानते हैं तुम परेशान हो. अकेली जा रही हो. बाबूजी भी होते तो साथ चले जाते. हमें भी निश्चिंतता हो जाती लेकिन... देखो ऐसा मौक़ा फिर नहीं आयेगा इसीलिए भेज रहे हैं. गुड्डी ठीक कहती है. तीरथ घूम आओगी तो अच्छी गति होगी. अब सो जाओ... कल यात्रा करनी है फिर.'' कहकर रग्घू चला गया.

उसके बाद मालती को नींद नहीं आयी. ''गति?'' धरम, पुण्य, मोक्ष, तप, गति ये सब तो घर में ही हैं. इतने संघर्षों के बीच बच्चों को अपने साये की तरह और ख़ुद धूप में तपते हुए पालन-पोषण करना क्या ये किसी तप-धर्म से कम था क्या ?

रिक्शा बाहर आकर खड़ा हो गया था. रग्घू ने सबेरे ही उसे कह दिया था. अगले मुहल्ले में ही रहता है. जब काम होता है तो फ़ोन करके बुला लेते हैं.

''अम्मा अपना ख़्याल रखना.'' गुड्डी ने जाते-जाते शहद भरे शब्दों में कहा और सास के पांव छू लिये. छोटी पोती अपनी मां की गोद में दादी के साथ जाने को रो-मचल रही थी, मालती का मन कलप–सा गया.

रग्घू बस अड्डे तक अम्मा के साथ उन्हें छोड़ने गया. वहां कुछ तीर्थ यात्री पहले ही आ चुके थे. वो ज़्यादातर जोड़े में थे. और वहीं पेड़ के नीचे खड़े या उन मुद्दतों पुरानी टूटी बेंचों पर बैठे बतिया रहे थे.

रग्घू ने मालती की बकसिया और झोला जिसमें मंजन, ब्रश, हाथ धोने का साबुन और सर दर्द की गोली भी थी रिक्शे से उतारकर ज़मीन पर रख दिया और रिक्शे वाले को पैसे देने लगा.

मालती रग्घू के पीछे–पीछे घने नीम के पेड़ के नीचे आ गयी जहां और लोग भी खड़े थे. रग्घू ने एक छोटी–सी जगह देख वहां लोहे का बक्सा बिछा दिया, ''अम्मा यहां बैठ जाओ जब तक बस आ रही है.'' कहकर लोगों से बात करने लगा. मालती ने देखा जिनसे वो बात कर रहा था वो सब मालती की तरफ़ देख रहे थे. वो समझ गयी कि रग्घू उसी के बारे में बात कर रहा है. उन्हें कह रहा होगा कि अम्मा हैं अकेली जा रही हैं. कभी अकेली घर से निकली नहीं तो इनका ख़्याल रखना.

सामने ही बस खड़ी थी. पीली-लाल चमचमाती बस. बस के पास खड़े दो–तीन युवक ख़ूब उत्साहित हो बस की ओर निहार रहे थे. एक मरियल-सा सांवला आदमी हाथ में गेंदे के फूलों की माला एक डंडी में लिये खड़ा था.

''ला भैया... दे दे माला... सिवजी कूं चढ़ा दें... ले पैसा...'' कहकर आदमी बस में चढ़ गया और ड्राइवर की सीट पर बैठ कर उसने बस में सामने लगी शिवजी की तस्वीर पर माला चढ़ाकर हाथ जोड़ लिये.

''हां भाइयों बैठ जाओ... सब आ गये?'' बस मालिक के जवान लड़के ने पूछा जो अभी–अभी बस में चढ़ा था और साथ में ही जाने वाला था. उसके साथ उसी की उम्र के दो लड़के और थे.

रग्घू जो अभी कुछ देर पहले कहीं चला गया था हाथ में तीन संतरे की पॉलीथिन लेकर आया और मालती का बक्सा लेकर बस में चढ़ा. पीछे-पीछे मालती बस में चढ़ी. उसकी धड़कनें बढ़ी हुई थीं.

''यहां बैठ जाओ अम्मा... कंडक्टर ने यहीं बैठने को कहा है.'' रग्घू ने उसे ड्राइवर के केबिन में बैठने का इशारा करते हुए कहा और उसका सामान वहीं सीट के नीचे खिसका दिया. ''टिकिट वग़ैरा की चिंता मत करना. कंडक्टर को दे दिये हैं. अच्छा अब चलता हूं. ड्यूटी पे जाना है.'' कहकर अम्मा के पैर छूकर वो चला गया. मालती ने सोचा था कि अभी वो रग्घू से बात करेगी कि अब भी कोई गुंजाइश हो तो वो घर वापस चले लेकिन.....

बस धीरे-धीरे खिसकने लगी थी. मालती के दिल की धड़कनें बस की रफ़्तार के साथ बढ़ने लगीं. उसे लगा जैसे अचानक उसका सब कुछ लुट गया हो और उसे किसी अनजान से जंगल में भेज दिया गया हो. केबिन में जहां पहले से ही तीन चार मुस्टंडे बैठे हुए थे. बस के चलते ही केबिन के कांच की खिड़की को लॉक कर दिया गया. अब

तो मालती का जी और भी धक्क... एक तो पूरी बस में उसका कोई संगी-साथी नहीं और ऊपर से केबिन में इतने मर्दों के बीच अकेली औरत. उसके 'दूसरे' मन ने उसे बहुतेरा समझाने की कोशिश की कि अरे भागवान, भरी बस में किसकी मजाल जो ऊंच-नीच हो जाय. और वैसे भी इतनी बुज़ुर्ग और गमट्ठू औरत को कौन छेड़ेगा... न मुंह में दांत न पेट में आंत... ये दूसरा तर्क मालती को घबराहट कम होने के लिए ज़्यादा मुफ़ीद लगा. लेकिन तभी उसे बहू गुड्डी का कुछ दिन पहले ज़ोर-ज़ोर से अख़बार में से एक बुज़ुर्ग औरत को घर में घुसकर बदसलूकी करने और हत्या कर देने की ख़बर को पढ़कर सुनाने का वाकया याद आया... मालती फिर सिहर गयी.

"अम्मा नेक उते सरकियो..." अचानक एक मरदाना आवाज़ से वो चौंकी. एक युवक उसी से सरकने को कह रहा था. वो घबराकर सीट पर ही और सिकुड़ कर बैठ गयी उसके दूसरे मन ने फिर समझाया, 'अरे ये तो अपने रग्घू से भी कम उम्र का छोकरा है रे, काहे का संकोच?' लड़का बिंदास उसके और एक बगल में बैठे दूसरे लड़के के बीच में ठंस कर बैठ गया और वे सब फिर ज़ोर-ज़ोर से बातें करने और हंसने लगे.

हे भगवान... ये दिन भी देखने थे. बाबू जैसे भी रहे वो थे तो ढाल ही. उनके जीते जी कहां कभी अकेले गयी वह. वैसे तो घर से कहां निकली लेकिन जब भी जाती बाबू साये की तरह उसके साथ रहते... और अब... इन मुस्टंडों के बीच वह अकेली?

'चिकनी चमेली पौवा चढ़ा के आयी.' अचानक एक जनानी बेशर्म सी आवाज़ बस के 'रेडियो' में से निकलकर पूरे केबिन मैं फैल गयी. कुछ युवकों के पांव उस पर थिरकने लगे.

"मस्त फिलिम थी गुरू... देखी थी क्या तूने?" पास बैठे लड़के ने कंडक्टर और उसके साथ बैठे लड़के की ओर देखकर कहा...

"फस्ट डे फस्ट शो गुरू... अपुन नयी छोड़ते ऐसी..." कहकर उसने आंख दबायी... अन्य लड़के हो–हो हंसने लगे. मालती ने माथे का पल्लू आंखों तक खींच लिया और केबिन के कांच से यूं ही बाहर की तरफ़ देखने लगी.

कहीं सुना-सुना सा लग रहा है यह गाना... मालती को अचानक धुन कुछ पहचानी सी लगी. दिमाग़ कुछ देर के लिए आसपास की गतिविधियों से हटकर गाने के सुने जाने की शिनाख़्त में लग गया. याद आया, अरे यह गाना तो जिज्जी के अज्जू के ब्याह में ख़ूब बजा था. और फिर गाने पर सब जनी मानसों के बीच बहू गुड्डी का थिरक-थिरक... लहरा-लहरा कर नाचना और कुछ लड़कों का सीटी बजाना याद आया.

छिः... कित्ता बुरा लगा था जब बहू सब कुनबे और बाहरी लोगों के आगे ऐसे भद्दे गाने पे ठुमक-ठुमक के नाच रही थी. न पल्लू का होश न ख़ुद का. एक वह है कि जब बहू बनकर आयी इस देहरी पर बाबू जी चले भी गये तो भी इस उमर में किसी ने उसका सर खुला कभी नहीं देखा नाचना गाना तो दूर की बात...

अचानक एक झटके के साथ बस रुक गयी. मालती का मगज दुनिया भर की बातों के बीहड़ में घूमता फिर ठिकाने पर आ गया.

उसने देखा कुछ लोग बस से नीचे उतर रहे हैं और कुछ नये बस में चढ़ रहे हैं. अचानक केबिन का दरवाज़ा कंडक्टर ने खोल दिया और वे सब मुस्टंडे उछल-उछल कर नीचे उतरने लगे.

मालती की सीट भी खाली हो गयी. वह ज़रा और फैल के बैठ गयी. और सुस्ताने लगी. 'चमेली' भी जाने कहां ग़ायब हो गयी... रेडियो फिर चुप होके बैठ गया था

'कम्बख़त एक पैर पे बैठे–बैठे पांव दुखने लगा.' उसने सोचा और पैर को सहलाने लगी. गला सूखने लगा था. माथे तक खींचा 'परदा' थोड़ा ऊपर किया. मालती ने थैलिया में से पानी की बोतल निकाली. खोलकर पीने लगी. पीते हुए रुकी हुई बस की खिड़की से बाहर लंगड़े चश्मे की तनी को हाथ से थामे देखने लगी. लड़के जो कुछ देर पहले केबिन में बैठे थे अब बाहर मटरगश्ती कर रहे थे. कोई सिगरेट पी रहा था, कोई गुटका ख़रीद या खा रहा था. कोई किसी लड़की को देखकर छींटे कस रहा था. सब मस्ती के मूड में...

हे भगवान जाने कब आयेगा "तीरथ"... मालती सोच रही थी. चश्मे की डंडी जब से टूटी है कितनी धुंधला गयी है दुनिया.

"अम्मा अब तू भी बैठ जा सीटें खाली हो गयी हैं." अचानक इस आवाज़ से वह चौंकी. यह वही बस कंडक्टर की आवाज़ थी जिसे रग्घू उसकी ज़िम्मेदारी सौंप कर गया था और जो अब बस के बाहर खड़ा हो खिड़की में से

झांककर उससे सीट पर बैठने को कह रहा था. मालती ने एक बार बस में देखा और सीट के नीचे से अपना सामान निकालने लगी. कितनी आंखें फैला ली थीं उसने तो भी दिखायी नहीं दे रहा था. जैसे-तैसे उसने अटैची खींची, थैलिया को कंधे पर लटकाया. चश्मे की साबुत तनी को पकड़कर सीट के नीचे झुककर 'छूटा तो नहीं सामान' एक बार देखा और केबिन की खुली खिड़की में से पैर उठाकर बस में आ गयी.

''कहां है खाली सीट,'' उसने चारों ओर देखते हुए सोचा. ''अम्मा वहां सबसे पीछे से आगे वाली खाली है. सामान वहीं ऊपर रख दे.'' कहकर कंडक्टर सवारियों को टेरने लगा. ड्राइवर भी अपनी सीट पर आकर बैठ गया था और बस स्टार्ट हो गयी थी. कुछ सवारियां बहराई–सी और कुछ आराम से बस में चढ़ने लगीं. बहराई सवारियां मालती को धकेलते हुए अपनी सीट पर जाकर बैठने लगीं. वह हिचकोले खाती कभी इधर, कभी उधर. पल्लू बार-बार सर से सरक जाता.

''बेटा ये सामान ऊपर रख दो हमारा...'' मालती ने एक दुबले-पतले से सहयात्री से कहा.

उसने सामान ऊपर रख दिया. मालती को समझ में नहीं आया कि वह उस लड़के का अभिवादन कैसे करे. आजकल अंगरेज़ी में कुछ कहते तो हैं... गुड्डी को कहते सुना है उसने जब छुटकी को स्कूटर पर अपनी लड़की के साथ बिठाकर उसका पड़ोसी राकेश लाता है. जब तक मालती कुछ सोच पाती यात्री अपनी जगह पर जाकर बैठ गया था.

बस चलने लगी थी और दो जनों की सीट पर मालती अकेली बैठ गयी थी. उसे राहत मिली. लेकिन बस फिर से रुक गयी और फिर एक अधेड़ से दुबले–पतले लंबे क़द के बुज़ुर्गवार बस में चढ़े. उन्होंने चौखाने की बदरंगी-सी नीली कमीज़ और मट्टी कलर की ढीली–ढाली पैंट पहन रखी थी. कंधे पर एक मैला-सा बैग टांग रखा था.

''दादा उधर बैठ जाओ अम्मा के कने सीट खाली है...'' कंडक्टर ने कहा.

आदमी मालती के पास आकर रुका. उसने अपना सामान सीट के नीचे रखा और सिकुड़ा–सा बैठ गया. मालती भी सिमट कर बैठ गयी और उसने पल्लू को माथे तक खिसका लिया. बस में रौनक थी. लोग हंसा-ठट्ठा कर रहे थे. बुज़ुर्ग अपने जोड़ीदार से बातें कर रहे थे. नयी नवेली बस अपने संपूर्ण जोशो ख़रोश के साथ भागी चली जा रही थी.

कुछ देर में बुज़ुर्ग ने अपने कपड़े के थैले में से एक पैकेट निकाला. खोलते ही अचार की ख़ुशबू बस में फैल गयी.

''खायेंगी क्या खाना,'' बूढ़े की आवाज़ गंभीर और परिपक्व थी.

नहीं... मालती ने सर हिला दिया. और भीतर तक सिहर गयी. पराया मरद वो भी उससे खाने को कह रहा है. एक बार फिर वही बात दूसरे मन ने दोहरायी... 'गमट्टी और बूढ़ी' होने की बात. मालती चुपचाप बाहर देखने लगी. हालांकि मन तो पूरा 'नयी सवारी' में लगा था.

''अकेली हो?'' आगंतुक ने परांठे का गस्सा तोड़ते हुए कहा.

''हओ...'' मालती ने खिड़की से बाहर देखते हुए सर हिला दिया... नहीं नहीं... अकेले नहीं... उसे अपनी ग़लती का अहसास हुआ... अकेला बोल दिया तो...

''अरे अकेले यात्रा कर रही हैं तो उसमें कैसा संकोच ... हमें तो दिखता है कि अकेली हैं और पहली ही बार जा रही हैं. बाहर... ठीक कह रहे हैं न?'' बूढ़े ने हलके से हंसते हुए कहा.

मालती चुपचाप डरी–सी बाहर देखती रही. उसके दिल की धड़कनें मारे डर के बढ़ गयीं. बीच की चुप्पी में न जाने कैसे–कैसे ख़्यालात आते-जाते रहे.

फिर आदमी ने बोलना शुरू किया, ''हम इटावा से आ रहे हैं.''

मालती चुपचाप बस की खिड़की में से बाहर की ओर देखती रही.

अबकी बार बातचीत के अंतराल में मालती ने अपने पति बाबू के बारे में सोचा. तीन–चार बार गयी है वह बाबू के साथ बस में बैठकर. बाबू ज़रा भी बोलना पसंद नहीं करते थे और अपना परिचय देना-लेना तो बिलकुल भी नहीं.

तभी बुज़ुर्गवार ने फिर बोलना शुरू कर दिया,

''असल में दूसरे गांव से आ रहे हैं. कल संझा से चले थे सो कुछ खाया नहीं था. सलहेज ने अचार परांठे रख दिये थे बना के. कल मन नहीं किया. अब थोड़ी भूख-सी लगी है बस... अभी दो महीने पहले ही हमारी पत्नी का स्वर्गवास हुआ है. तब उन्हीं ने हमारा ज़िम्मा ले रखा था. यात्रा का खूब इंतज़ाम करके भेजती थीं वे हमें. लू न लग

जाय इसके लिए छोटा तौलिया, पानी का थर्मस, साबुन की टिकिया, चद्दर... सब.'' बुज़ुर्गवार बोलते चले जा रहे थे और मालती की धड़कनें उन्हें घबराई हुई सुन रही थीं. मालती ऐसे बैठी थी जैसे उसे उस नयी सवारी से कोई मतलब नहीं. वो खिड़की में से बाहर देख रही थी. 'खिड़की न होती तो ....' उसके मन में कहीं यह भय भी करवट ले रहा था. पराये मरद की इतनी निकटता उसने तो पहली बार ही महसूस की है. बाबू होते तो... उसे याद आया एक वाकया जब देवर के ब्याह में नयी उमर की बिटिया-दुल्हनों ने उसे नाचने को खड़ा कर दिया था. बाबू इतने नाराज़ हो गये थे कि बीच ब्याह में उसे लेकर घर चले गये थे और घर जाकर...

बस में गाना फिर ज़ोर-ज़ोर से बजने लगा था. वही '...चिकनी चमेली.' बस जंगलों, बस्तियों, इमारतों, गांवों सबको पीछे छोड़ती भागी जा रही थी.

'छुटकी के स्कूल से आने का बखत हो गया होगा ... आज कौन उसे लेकर आयेगा,' मालती का मन घर में लगा था. बहू गुड्डी कह रही थी कि रग्घू ने उसे तीरथ पर भेजने के लिए पूरे चार हज़ार ख़र्चा किये हैं. क्यों किये? तीरथ की क्या ज़रूरत थी. घर में ही क्या बुरे थे? हमारे लिए तो घरई तीरथ है. बताओ, चार हज़ार में तो दो महीने का गेहूं पटक लेते तो काम आता. यहां अनजाने लोगों के संग भेज दिया वो भी चार हज़्ज़ार ख़र्चा करके... अरे दो हज़्ज़ार ही सही हमारे हाथ पे रख देते तो देख तो लेते कि कैसा लगता है अपने हाथ से अपने मन की चीज़ ख़र्चने में? मालती और उदास हो गयी.

'बीड़ी जलायी ले...' दूसरा गाना बजने लगा था.

''भैया कित्ते बजे हैं? एक बुज़ुर्ग ने मालती के पास बैठे आदमी से पूछा.

उसने हाथ घड़ी देखकर कहा, ''सवा बारह होने को हैं...''

''अरे बस रोको पिसाब जाना है हमें...'' एक बूढ़े ने मरियल सी आवाज़ में कहा. बस वाले ने शायद सुना नहीं. बस यूं ही बहरायी-सी भागी जा रही थी. ऊपर से कानफोड़ू गाना... मालती की बग़ल में बैठे बुज़ुर्गवार उठे और केबिन के निकट जाकर उन्होंने कांच को खटखटाकर इशारे से बस रोकने को कहा. बस चीं करती रुक गयी.

'जाना तो हमें भी है बाथरूम... पर अकेले... वो भी सामान बस में छोड़कर कैसे जायें...? अभी मालती सोच ही रही थी कि बग़ल में बैठे बुज़ुर्ग ने कहा, ''तुम्हें जाना है क्या बाथरूम?'' उसने संकोच में हां में सर हिलाया.

''जाओ तो हो आओ...''

'लेकिन चश्मा तो टूटा है. कहीं बाथरूम में फिसल गयी तो और मुसीबत... कोई है भी नहीं साथ... और देरी हो गयी निकलने में और बस छूट गयी तो...' मालती सोचकर सिहर गयी.

''नहीं–नहीं ठीक है बस,'' उसने कहा.

''अरे सामान-उमान हम देख लेंगे तुम्हारा भाई. जाओ हो आओ... फिर न जाने कहां रुकेगी...'' बूढ़े ने फिर कहा.

अब चश्मे की बात कैसे बताये... मालती मन ही मन सोच रही थी.

''नीचे जाने में डर रही हो?'' आदमी हंसते हुए बोला. ''चलो हम चले चलते हैं...'' कहकर वो उठ खड़ा हुआ. ''देखो बाथरूम रोकना नहीं चाहिए... गुर्दे ख़राब हो जाते हैं... आओ चलो...''

मालती यंत्रवत-सी उसके पीछे-पीछे चल दी. उसने घूंघट थोड़ा और आगे को खींच लिया. और धीरे से सफ़ाई दी, ''असल में हमारा चश्मा टूट गया है.''

बस की सीढ़ियां कुछ ऊंची थीं. मालती वहीं खड़ी रह गयी. बूढ़ा समझ गया. वो बस से नीचे उतर आया और अपना हाथ मालती की तरफ़ बढ़ाकर बोला, ''आ जाओ पकड़ लो हाथ... गिरोगी नहीं.''

किसी ग़ैर मरद का हाथ? नहीं नहीं... यह नहीं हो सकता... मालती कांप-सी गयी.

''हम उतर जायेंगे धीरे-धीरे...'' कहकर मालती उतरने लगी लेकिन लड़खड़ा गयी. बूढ़े ने हाथ पकड़कर उसे उतारा. केबिन में बैठे वो छोकरे उन्हें देख रहे थे. मालती सकपका गयी.

''बस-बस अब चले जायेंगे...'' कहकर मालती ने झटके से हाथ खींच लिया.

''देखो वो महिलाएं जा रही हैं न, बस वो ही है बाथरूम, चली जाओ...'' कहकर बुज़ुर्ग पास की दूकान पर चला गया.

मालती जब बाथरूम से लौटी तो एक जैसी बसों को कतार में खड़ी देख डर गयी. अरे कौन-सी बस थी उसकी? वो घबराकर देखने लगी. तभी एक बस वहां से चल दी. मालती घबराकर चीख़ी... ''अरे भैया हम बचे हैं... हमें भी

ले चलो...''

तभी बूढ़े ने आगे आकर कहा, ''अरे अपनी बस तो जे खड़ी है काहे घबरा रहीं?'' कहकर वो हंसा. मालती झेंप गयी.

''लो चाय पियो...'' बूढ़े ने चाय का प्याला मालती को देते हुए कहा.

मालती ने मना किया लेकिन बूढ़ा नहीं माना. ''अब पांच रुपैया ख़रचा करके ली है पी लेओ.'' कहकर उसने बहुत आत्मीयता से कप मालती को पकड़ा दिया. चाय पीते हुए मालती को बहू गुड्डी की तीख़ी आवाज़ याद आयी. सुबह चाय पीनी दूभर कर देती है उसका. ''अरे जल्दी पियो न चाय ... छुटकी की स्कूल की बस छूट जायेगी ... डुकरिया को तो बस चाय पीने की पड़ी रहती है...'' चाय का स्वाद औचक कसैला-सा लगा उसे.

''लाओ हम ले जाते हैं प्याली...'' कहकर बूढ़े ने उसके हाथ से कप ले लिया और दूकान पर दे आया. ''आ जाओ बस में.'' कहकर उसने फिर से मालती का हाथ पकड़ लिया.

''नहीं, नहीं हम चढ़ जायेंगे...'' कहकर मालती गोड़े पकड़कर धीरे-धीरे बस में चढ़ने लगी.

बस फिर दौड़ रही थी घरों, मवेशियों, जंगलों, कस्बों, गांवों को छोड़कर. बूढ़ा फिर मालती की बग़ल में बैठ गया था. अब उसने अपने बैग से एक क़िताब निकाल ली और चश्मा लगाकर पढ़ने लगा

आदमियों में भी इत्ता फरक होता है क्या? मालती सोच रही थी. उसे बाबू का खुर्राट और हमेशा क्रोध में तमतमाया चेहरा याद आ गया.

बस, बड़े दरख़्तों और मैदानों, पहाड़ों सबको पीछे छोड़ आगे भागी जा रही थी. मालती का अतीत उसकी आंखों में उतर रहा था जैसे शाम उतर रही थी.

कित्ती डरती थी वो अपने पति 'बाबू' से और कित्ता डरपाते थे बाबू उसके डर को? साग में ज़रा सा नमक ज़्यादा-कमती हो जाये या चाय में चीनी पत्ती ऊपर-नीचे तो बरतन फेंक देते थे उठाकर. कोई मेहमान भले ही वह मालती का भाई ही हो घर आये तो माथे तक घूंघट निकालकर उससे बात करनी पड़ती थी. पराये मरदों या ''मानों'' के सामने आने में तो साफ़ मनाही थी. कभी वो रोती तो सास कहती, ''बामन, ठाकुर गुस्सैल न होगा तो भंगी चमार न हो जायेगा? ये ही तो फरक होता है जात-जात का. न मरद को अपना जात छोड़ना चाहिए और न जनी को अपनी लाज.'' सिर से सरकता पल्लू मालती ने फिर से ठीक कर लिया.

अब बस में शांति थी. कोई सो रहा था, कोई बातें कर रहा था. बग़ल में बैठा बुज़ुर्ग अभी भी क़िताब पढ़ रहा था और मालती की यादें बस की रफ़्तार का पीछा कर रही थीं. काफ़ी देर तक यूं ही चलता रहा.

अचानक एक झटके के साथ बस रुक गयी. केबिन में से कंडक्टर बाहर आया और बोला, ''चलो सब उतर जाओ खाने का टेम हो गया.''

''चलो भाई...'' कहकर मालती की बग़ल में बैठे बुज़ुर्ग ने जम्हाई ली, ''चलो खाना खा लें.''

''नहीं मेरा तो आज उपास है...'' मालती ने झूठ बोल दिया.

बूढ़ा कुछ पल मालती की ओर देखता रहा फिर बोला, ''अरे तो का भूखी रहोगी पूरा दिन? तबीयत ना बिगड़ जायेगी ? अरे यात्रा वग़ैरह में तो भगवान भी छूट दे देते हैं...चलो खा लो.''

''नहीं, नहीं हम नहीं खाते.'' कहकर मालती खिड़की से बाहर झांकने लगी जैसे बातचीत में गठान लगा दी हो.

''ठीक है फिर...'' कहकर बुज़ुर्गवार बस से उतर गये.

'ये बुढ़ऊ काहे इत्ता मेल जोल बढ़ा रहे... आजकल के ज़माने में तो उमर का भी कोई लिहाज सरम नहीं. घरवाली है नहीं. अकेले जा रहे तीरथ पर. राम राम... अब वो बिलकुल बात नहीं करेगी उनसे...' मालती ज़रा और खिड़की की तरफ़ सरक कर बैठ गयी.

न जाने कब मालती को खिड़की से टिके-टिके नींद आ गयी. इस छोटी-सी नींद के टुकड़े में मालती ने बाबू को ग़ुस्सयाते देख लिया. वास्तव में उसकी नींद तो उसी ग़ुस्से से टूटी. वरना तो पिट गयी होती सपने में... इत्ता बड़ा पाप किया था उसने ग़ैर मर्द की बग़ल में बैठने का ही नहीं उसको छूने का भी. न जाने क्यों उसे लग रहा था जैसे बाबू अदृश्य हो कहीं से उसे मर्द की बग़ल में बैठे देख आग बबूला हो रहे हैं.

कंडक्टर चिल्ला कर सबको बुला रहा था, ''चलो भाई शाम हो रही है... रात होने से पहले अजमेर पहुंचना है.'' लोग बाग चढ़ने लगे थे. आधी से ज़्यादा बस भर गयी

थी लेकिन बूढ़ा नहीं आया था.

मालती की बेचैनी बढ़ने लगी.

'अरे न आये तो न सही ... उसे क्या ...यात्री ही तो है! वह क्यों बेचैन हो रही है उस ग़ैर मरद के लिए.' 'लेकिन घबराहट थी कि कम ही नहीं हो रही थी. उसने टूटा चश्मा फिर पहन लिया और उसकी तनी को हाथ से पकड़कर खिड़की में से बाहर देखने लगी. कहीं दिख भी तो नहीं रहे... कहां चले गये वो सोच रही थी.

बस सरकने लगी. मालती की घबराहट तेज़ हो गयी. उसने बस में सबको देखा. सब अपने-अपने में मस्त थे. उसने एक बार फिर अपने बग़ल की खाली सीट को देखा और फिर घबराकर बाहर देखने लगी. बस अब भी सरक रही थी. ''चलो भाई गेट बंद करो ..आ गये सब.'' जैसे ही कंडक्टर ने कहा मालती खड़ी हो गयी और ज़ोर से चिल्लायी, ''भैया बे नहीं आये हैं अभी.''

''कौन?'' कंडक्टर ने पूछा.

''अरे बो ही जो हमारे कने बैठे थे.''

बस के केबिन में बैठे लड़के एक दूसरे की ओर देखकर हंसने लगे.

''रोको भैया... अभी एक डोकर रह गया है नीचे ...'' कंडक्टर ने कहकर विसिल बजायी. बस फिर चीं करती रुक गयी.

कंडक्टर ग़ुस्से में नीचे उतरा. चारों ओर देखने लगा. मालती की घबराहट बढ़ती जा रही थी. उसने बूढ़े की सीट पर रखा अंगोछा उठा लिया और अपने पास रख लिया. उसके सामान को सीट के नीचे एक बार झांककर देखा और फिर से खिड़की के बाहर देखने लगी.

बूढ़ा दूर से भागता हुआ गिरता-पड़ता-सा चला आ रहा था. वह जैसे ही बस में चढ़ा कंडक्टर चिल्लाने लगा. ''कहां चले गये थे दद्दू ... ऐसा अब नहीं चलेगा... किसी बस-उस के नीचे दब-दबा गये तो हमारी जान पे आ जायेगी ..चलो बैठो अब...''

''अरे माफ़ करना भाई. दवाई लाना भूल गया था. रोज़ लेना पड़ती है न. बस ज़रा दवाई की दूकान थी अड्डे के बाहर वही लेने गया था सो देर हो गयी.''

''चलो चलो... बैठो अब,'' कहकर कंडक्टर ने फिर से विसिल बजा दी.

मालती फिर तटस्थ-सी बैठ गयी हालांकि उसके मन में कोहराम मचा हुआ था. पूछना चाहती थी कि कहां रह गये थे? बस चल देती तो? तुम रह जाते तो मेरा क्या होता? इतना हांफ रहे हो लो पानी पी लो... लेकिन न जाने होठ थे कि सिल ही गये थे. वह बस से बाहर देखती रही. 'बाबू' अब भी अदृश्य ग़ुस्सियाए से उसकी ओर ही देख रहे थे.

''सुनो...'' बूढ़े ने मालती से कहा.

मालती ने सकुचाते हुए उसे दखा

''ये लो सेव और केले लाया हूं खा लो. यात्रा और परदेस में भूखे रहना ठीक नहीं फलाहार है.'' जब वो उसे पोलीथिन दे रहे थे तब मालती ने देखा उनके कमीज़ की बांह कलाई से फटी हुई थी और वो झूल कर नीचे को गिर रही थी.

''अरे इसकी सिलाई करनी थी ..हमें आती नहीं है पत्नी ही करती थी... अब जाके करेंगे ...'' कहकर झेंपते हुए से वो हंसे.

मालती ने संकोच से पोलीथिन ले ली और एक सेव अपने सहयात्री बूढ़े की ओर बढ़ा दिया, ''तुम भी ले लो'' उसने कहा.

''नहीं, नहीं तुम खाओ... हम तो अभी नीचे भोजन करके ही आ रहे हैं,'' ये उन दोनों के बीच में पहला सीधा संवाद था.

''अरे लेकिन ...'' मालती कुछ कहती उससे पहले ही बूढ़े ने बात काटते हुए अधिकार से कहा, ''खा लो अब ..नख़रे मत करो...यहां कौन है तुम्हारा... तबीयत बिगड़ गयी तो लेने के देने पड़ जायेंगे.''

मालती ने संकोच के साथ सेव खाना शुरू कर दिया.

बूढ़ा फिर क़िताब खोलकर पढ़ने लगा था और मालती खिड़की से टिकी ऊंघने लगी.

शाम की धुंधलाहट बढ़ती जा रही थी.

''ठंडक बढ़ गयी है थोड़ी. कोई कंबल-उंबल लायी हो तो निकाल लो.'' मालती कुछ कह पाती इससे पहले ही वृद्ध ने ऊपर रखे सामान में से वो नीला बक्सा दिखाते हुए कहा, ''यही है न तुम्हारा सामान?''

''हां, लेकिन उसमें नहीं होगा. ये थैलिया है हमारे कने इसी में से...''

''ठीक है... निकाल लो फिर...'' कहकर वृद्ध फिर से अपनी सीट पर बैठ गये.

मालती ने थैलिया को खोला. कपड़े की चीकट थैली

जो कई जगह से उधड़ी हुई थी. उसमें सामान खखोरने लगी.

"क्या हुआ, नहीं है क्या?" वृद्ध ने पूछा

"हां शायद बहू रखना भूल गयी..." मालती ने संकोच से कहा.

"कोई बात नहीं... हमारे पास है एक... तुम ओढ़ लो."

"अरे नहीं... हमें बिलकुल जाड़ा नहीं लग रहा."

"अरे ले लो ये खेस... अपने बूढ़े हाड़ हैं... ठंड घुस गयी तो मुश्किल हो जायेगी," कहकर बूढ़ा हंसा और खेस उसे दे दिया.

"अब आराम से टिककर सो लो."

"हां..." कहकर मालती खिड़की से टिक गयी. लेकिन नींद कहां.

उसने एक बार बग़ल में बैठे वृद्ध की ओर देखा. वो चश्मा लगाकर अब भी कोई क़िताब पढ़ रहे थे.

इनका परिवार भी तो होगा ? इनके भी तो बहू-बेटे या बेटियां होंगी पूछा ही नहीं. कितनी मूर्ख है वह उसे लगा. बचपन से लेकर अब तक उसे तो ऐसे डराया गया है जैसे मर्द कोई जानवर होते हैं. जब वह छोटी थी तो अपने बाप के सामने भी आंखें ऊपर करके बात नहीं कर पाती थी, और शादी के बाद तो, ग़ैर मर्दों को तो क्या अपने बेटे तक को उसके जवान होने के बाद आंख भर नहीं देखा उसने. जबकि बेटा पैदा उसी ने किया. अब बहू का पूरा राज चलता है उस पर. हमें सब क़ायदे-क़ानून सिखा हमारे मां-बाप चले गये और ज़ोर ज़बरदस्ती से हम पर बंदिश लगा पति 'बाबू' भी. हम अकेले भी रह सकते हैं इत्ती डरावनी दुनिया में यह कभी ना सोची उन औरन ने?

अचानक मालती को जैसे कुछ याद आया. बस अड्डे पर बेटा रग्घू कुछ संतरे ख़रीद कर दे गया था जो थैलिया में रखे थे. उसने वे निकाले और दो संतरे वृद्ध की ओर बढ़ाकर कहा, "ये बेटे ने रखे थे हमारे लिए...खा लो." वृद्ध ने कुछ कहना चाहा लेकिन फिर संतरे ले लिये.

"तुम भी खा लो..." वृद्ध ने कहा.

"नहीं... तुमने सेव खिला दिये न तो अब भूख नहीं है.

"ठीक है," कहकर वृद्ध संतरा छीलने लगे.

"एक बात पूछें तुमसे?" मालती ने कांपती-सी आवाज़ में कहा.

"अरे क्यों नहीं पूछो न. अच्छा लगा कि तुमने हिम्मत की."

मालती भी मुस्कुरा दी.

"तुम्हारे भी पत्नी और बच्चे होंगे... कहां रहते हैं वे?"

वृद्ध कुछ देर चुपचाप संतरे की फांकें अलग करते रहे.

"हां... पत्नी हैं नहीं, थीं... अभी दो महीने पहले ही उनका देहांत हुआ. बहुत सीधी-सरल महिला थी. वो तो घर-गृहस्थी में जुटी रहीं. हम सरकारी मास्टर थे कई गांवों, क़स्बों में तबादले होते रहे. अभी छः महीने पहले ही रिटायर होने के बाद घर आये थे. पिछले तीन वर्षों में अपनी ज़िम्मेदारियां पूरी कर दिये. एक ठो मकान बना लिये... एक बिटिया है. ब्याह कर दिये. एक बेटा है उसका विवाह भी हो गया है. एक बच्ची भी है उसके..."

"बेटे के घर जा रहे हैं?"

"नहीं... वहां से आ रहे हैं... वो हमारा ही घर है. वो भी अब 'था' हो चुका है..." कहकर वृद्ध हंसे ... "अरे बताओ इतनी बातें कर लीं लेकिन तुम्हारा नाम तो पूछा ही नहीं हमने."

कुछ झेंपते हुए 'मालती...' कहकर वो ख़ुद ही चौंक-सी गयी. कितने दिन बाद उसने अपना नाम अपने मुंह से लिया है. वरना वो तो अम्मा, जीजी, चाची, रग्घू की मां जैसे संबोधनों को ही अपना नाम समझने लगी थी. कितने टुकड़े जो हो गये थे उसके नाम के? अब जैसे उन टुकड़ों को बटोरकर उसने उन्हें एक करके अपना नाम फिर जोड़ा था 'मालती'.

"अच्छा नाम है ..हमारी पत्नी का नाम इंदुमती था... क्या बतायें ... था कहने में जीभ कांपती है हमारी लेकिन..." कहकर वृद्ध उदास हो गये.

"हमारे पति को भी क़रीब इतना ही समय हुआ है, नहीं रहे." मालती ने कहा

"अरे....! बच्चे कितने हैं?"

"बस एक बेटा ...पांच बरस पहले ब्याह हुआ था उसका. अब तो तीन पोतियां भी हैं."

"उन्हीं के साथ रहती हो?"

"हां."

"भाग्यशाली हो. बेटे तो अच्छे ही होते हैं मालती, बहू अच्छी मिल जाय तो बाक़ी का जीवन भी सुधर जाता

है... है न!''

''हां...'' सही बात है...कह तो दिया मालती ने लेकिन एक अजीब–सी बेचैनी उसे घेरने लगी. मालती हैरान थी वृद्ध की बातें सुनकर ...उसे तो यह पता ही नहीं था कि उस जैसी बेपढ़ गंवारू औरत के साथ वो भी कोई मर्द उसका नाम लेकर इतने अपनापे और सभ्यता से बात कर सकता है.

''अरे का हुआ? कहां खो गयी मालती? ऐसा ही होता है. जानते हैं पति की याद आ गयी होगी. लेकिन क्या किया जा सकता है. एक बात कहें मालती मानोगी?''

''हां कहो.''

''डरते पापी लोग हैं... जो तुमने नहीं किये... इसलिए डरना छोड़ दो... हम देख रहे हैं तुम बहुत डरी हुई सी रहती हो.''

मालती चुपचाप बैठी रही. इत्ती ऊंची-ऊंची बातें सुनकर उसे अपना गंवारू होना फिर याद आया.

''खिड़की बंद कर दो ज़्यादा ठंडक होने लगी है... तुम ज़रा बाहर आओ ... कहकर वृद्ध सीट से उठकर एक ओर खड़े हो गये. उन्होंने मालती से भी सीट से बाहर निकलने को कहा. मालती चुपचाप एक तरफ़ आकर खड़ी हो गयी. वृद्ध ने खिड़की के निकट जाकर खिड़की बंद की और मालती से अपनी जगह पर बैठने को कहा. मालती ने देखा उनकी कमीज़ की झूलती हुई बांह फिर नीचे को गिरने लगी है. मालती को कुछ याद आया. उसने अपनी चूड़ियों में लगी सेफ़्टी पिन को निकाला जो ऐसे ही आड़े वक़्त के लिए वे अपनी अम्मा की देखा-देखी चूड़ियों के बीच में लगा लेती थी.

''ये लगा लो अपनी बांह में... और घर जाकर उसे किसी से सिलवा लेना...'' मालती ने सेफ़्टी पिन वृद्ध को देते हुए कहा.

''वाह ...ये बढ़िया रास्ता सुझाया तुमने.'' वृद्ध हंसते हुए बोला, ''लेकिन इसे हम लगायेंगे कैसे. रख लो... ऐसे ही ठीक है.''

''लाओ हम लगा दें...'' कहते हुए मालती को अभूतपूर्व अनुभूति हुई. लेकिन चश्मे की तनी टूटी होने के कारण उसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था.

''तुम्हारा चश्मा टूट गया है. हमारा पहन कर देख लो.'' कहकर वृद्ध ने अपना चश्मा मालती की ओर बढ़ा दिया.

''अरे नहीं, नहीं.''

''अरे भाई पहन कर तो देखो. अपने स्वारथ के लिए ही कह रहे हैं. यदि पिन हमें चुभ गयी तो?''

मालती ने चश्मा पहना तो उसे लगा अचानक आंखों की बुझती लालटेन भक्क से जल गयी हो और सब कुछ साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा हो.

''दिखाई दिया न?''

''हां...भोत अच्छा...''

उसने वृद्ध की कमीज़ की फटी हुई बांह में करीने से पिन लगा दी. वृद्ध मुस्कुराते रहे. ''अब ठीक है. देखो न स्त्री के काम तो स्त्री ही कर सकती है. हम पुरुषों में तो इतनी अक़्ल भी नहीं होती कि ये उपाय भी हो सकते हैं...'' कहकर वृद्ध हंसने लगे.

''माट्साब... आपका गांव आ गया...'' कंडक्टर ने आवाज़ लगायी तो वृद्ध उठ खड़े हुए.

''अच्छा मालती अब चलते हैं... हमारा ठौर आ गया...''

''अरे... तुम हमारे साथ तीरथ पर नहीं जा रहे?'' मालती सहसा चौंक गयी.

''तीरथ?'' कहकर वृद्ध हंसे ..फिर बोले ''...अपना ख़्याल रखना.''

''ये तुम्हारा चश्मा.'' कहकर मालती ने चश्मा उतार दिया.

''ये तुम रख लो.'' हम तो वैसे भी पढ़ते बखत ही लगाते हैं. एक और पुराना चश्मा भी है हमारे पास.

''अरे नहीं...'' कहती रह गयी मालती लेकिन वृद्ध ने अपना सामान उठाया और बस के नीचे उतर गये. बाहर निपट अंधकार था. लेकिन कच्चे–से रस्ते के दोनों ओर लगीं बत्तियों से कुछ दूर तक देखा जा सकता था. दूर तक कोई रिहाइश नहीं थी सिवाय खेतों और अंधेरों के. मालती को लगा कि नीचे उतरकर वृद्ध उसकी ओर देखेंगे तब वो उनसे अंतिम राम राम कर लेगी लेकिन उन्होंने देखा ही नहीं और अपना बैग लेकर ऐसे चले गये जैसे अब इस बस की तरह उनका उसके किसी भी यात्री से कोई लेना-देना नहीं रह गया हो. मालती वृद्ध की जाती हुई पीठ को चश्मे से देखती रही. अचानक उसे याद आया वो अपना खेस भी छोड़ गये हैं. मालती को ख़ुद पर ग़ुस्सा आया.

बस खिसकने लगी थी. अचानक पूरी बस में 'चोली

(शेष पृष्ठ–४४ पर देखें.)

आमने-सामने

"महत्व जीवन का नहीं चलते रहने का है !"

✍ वंदना शुक्ला

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने-सामने'. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नी सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रजाक, मदन मोहन 'उपेंद्र', भोला पंडित 'प्रणयी', महावीर रवांल्टा, गोवर्धन यादव, डॉ. विद्याभूषण, नूर मुहम्मद 'नूर', डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', सुरेंद्र रघुवंशी, राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान 'बातिश', डॉ. शिव ओम 'अंबर', कृष्ण सुकुमार, सुभाष नीरव, हस्तीमल 'हस्ती', कपिल कुमार, नरेंद्र कौर छाबड़ा, आचार्य ओम प्रकाश मिश्र 'कंचन', कुंवर प्रेमिल, डॉ. दिनेश पाठक 'शशि', डॉ. स्वाति तिवारी, डॉ. किशोर काबरा, मुकेश शर्मा, डॉ. निरुपमा राय, सैली बलजीत, पलाश विश्वास, डॉ. रमाकांत शर्मा, हितेश व्यास, डॉ. वासुदेव, दिलीप भाटिया, माला वर्मा, डॉ. सुरेंद्र गुप्त, सविता बजाज, डॉ. विवेक द्विवेदी, सुरभि बेहेरा, जयप्रकाश त्रिपाठी, डॉ. अशोक गुजराती, नीतू सुदीप्ति 'नित्या', राजम पिल्लै, सुषमा मुनींद्र, अशोक वशिष्ठ, जयराम सिंह गौर और माधव नागदा से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है वंदना शुक्ला की आत्मरचना.

यादों का एक जादुई उड़न खटोला जिसमें बैठ मैं आज भी कभी-कभी परियों के देश में पहुंच जाती हूं. उस देश का नाम है बचपन. संगीत और हिंदी भाषा दोनों मुझे विरासत में मिलीं. मां एक जाने-माने विद्यालय में हिंदी शिक्षिका थीं और पिता चिकित्सक. मैंने जब से होश संभाला अनुशासन, कर्मठता और विनम्रता को अपने आसपास देखा. हम पांच बहनें थीं. मां बेहद मेहनती और रोबदार महिला थीं. हम बहनें मां से बाक़ायदा डरते थे. हम उसी विद्यालय में पढ़े जिसमे मां शिक्षिका थीं. वो हमारी पढ़ाई-लिखाई का पूरा लेखा-जोखा रखतीं. मजाल है जो पढ़ाई में कहीं कोताही हो जाये. पापा बला के सीधे सच्चे और ईमानदार व्यक्ति थे. मुझे हिंदी कहानियां पढ़ने का शौक़ बचपन से था. गर्मी की छुट्टियां आते ही जब सब बच्चे मैदान में ख़ूब खेलते, हुड़दंग मचाते मैं अगली कक्षा की हिंदी की क़िताब में नयी कहानियां पढ़ती रहती. घर में मां की अलमारी में प्रेमचंद, फणीश्वर नाथ रेणु, शरत चंद्र, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा आदि की क़िताबें थीं. हालांकि उस समय ये मेरी उम्र और अक्ल के हिसाब से आगे की चीज़ें थीं. कुछ कहानियां भी थीं तब. सच्ची कहानियां, जो उड़ते–उड़ाते गाहे बगाहे कानों से टकरा जातीं. जैसे, पापा का विवाह जब हुआ मां सिर्फ़ १३ वर्ष की थीं और पापा उनसे दस वर्ष बड़े यानी तेईस वर्ष के. मां के साथ व्यवहार में ज़िंदगी भर उन्होंने अपने इस "बड़प्पन" का निर्वहन किया. पापा की प्रेरणा और अतुलनीय सहयोग से ही आठवीं कक्षा से लेकर हिंदी / संगीत स्नातकोत्तर तक मां ने शिक्षा ग्रहण की और फिर हिंदी की शिक्षिका बनीं.

उनके शिक्षिका बनने की भी एक मजेदार कहानी है. उस वक़्त नौकरी पेशा स्त्रियों का प्रतिशत तुलनात्मक रूप से बहुत कम था. चुनांचे जब मैनेज़मेंट को ये पता चला कि डॉ. दुबे की पत्नी ने एम. ए. हिंदी में किया है तो स्कूल जो उसी मिल द्वारा संचालित था की प्रिंसिपल ने घर में ख़बर भेजी कि वे शिक्षिका के इंटरव्यू के लिए आ जायें. पापा तो

बेहद प्रसन्न हुए लेकिन मां ने साफ़ इंकार कर दिया.

"अरे क्यों नहीं जाना," पापा ने उनसे पूछा.

"लोग क्या कहेंगे?" मां का भोला सा ज़वाब था.

"अरे क्या कहेंगे लोग? कोई बुरा काम है क्या अध्यापन? बच्चों को शिक्षित ही तो करना है."

"देखो कॉलोनी की कोई स्त्री नौकरी नहीं करती."

हां, लेकिन वो पढ़ी-लिखी नहीं हैं इसलिए. तुम तो इतनी पढ़ी-लिखी हो. शिक्षा दान करो पुण्य मिलेगा. "नहीं मेरे पांव बाहर नहीं पड़ते. बस पढ़ लिये आपकी बात मान ली इतना काफ़ी है." मां ने जैसे अपनी ज़िद् में गांठ लगा दी.

"लेकिन एक बात सोचो. हमारी बेटियां इतनी होनहार हैं. उसी स्कूल में पढ़ती हैं. तुम भी उसी में शिक्षिका हो जाओगी तो बेटियों को और अच्छे से पढ़ा लिखा पाओगी?" पापा ने एक और कोशिश की.

अंतिम प्रयास कामयाब रहा और मां नौकरी के लिए राजी हो गयी. ये नौकरी उन्होंने रिटायरमेंट तक की.

घर का माहौल सांगीतिक था. पापा को शास्त्रीय संगीत सुनने का बेहद शौक़ था. वे बेहतरीन हारमोनियम बजाते थे. मां को उन्होंने ही शास्त्रीय संगीत एक बाक़ायदा ट्यूटर रखकर सिखाया. उसके बाद उन्हें संगीत कॉलेज सीखने के लिए भेजा लेकिन मां थोड़ी संकोची थीं उन्होंने मंच पर कार्यक्रम कभी नहीं दिये. मां हम सब बहनों का आदर्श रहीं. उनके स्वभाव में कठोरता और सौम्यता का अद्भुत मिश्रण था. एक तरफ़ तो हम बहनों पर घर के अनुशासन को गंभीरता से पालन करने की पाबंदी रहती, दूसरी ओर हमें इस बात की छूट थी कि हम अपनी पढ़ाई के विषय, अपनी रुचि, अपनी ड्रेस, अपना कैरियर स्वयं चुन सकें. मेरे बी. एच. एससी करने के बाद मां पापा की इच्छा थी कि मैं उसी में पोस्ट ग्रेजुएशन करूं लेकिन मैंने हिंदी पढ़ने का मन बनाया था सो इनकार कर दिया. वे तैयार हो गयीं. मुझे याद है मैं उस वक़्त हिंदी और संगीत में एक साथ डिग्री कर रही थी और सुबह हिंदी पढ़ने महारानी लक्ष्मी बाई कॉलेज जाती थी और शाम को माधव संगीत महाविद्यालय में. उस वक़्त न घर में फ़ोन था न कोई फ़ोर व्हीलर. पापा का वेस्पा स्कूटर था जिसमे वो अपने क्लीनिक वग़ैरह जाते. मुझे कॉलेज़ जाने के लिए बस बहुत दूर से मिलती थी और दोनों ही कॉलेज़ काफ़ी दूरी पर थे. हालांकि शाम को कॉलेज़ से आने में ज़रा भी देर हो जाती तो मां की डांट खाने को तैयार होकर घर आना पड़ता था लेकिन घर के सब सदस्य खाना खाकर अपना काम करते और मां मेरे कॉलेज़ से लौट आने की राह देखतीं. खाना गरम करतीं और हम दोनों खाते. वो मुझसे कॉलेज़ में क्या पढ़ाया ये पूछतीं. मां ने हिंदी में एम. ए. तो मुझसे पहले कर लिया था लेकिन संगीत में हम दोनों ने साथ परीक्षा दी. उन्होंने प्राइवेट और मैंने रेगुलर छात्रा के रूप में. वो एक अद्भुत अनुभव था. हिंदी / संगीत में स्नात्तकोत्तर, आकाशवाणी भोपाल से एपरूव्ड सिंगर, आकाशवाणी पर उद्घोषिका, संगीत के कार्यक्रमों में हिस्सेदारी, रंगमंच और थोड़ा बहुत लेखन ये सब मेरी जीवन यात्रा के २३वें पड़ाव तक की मुख्य उपलब्धियां कही जा सकती हैं. मेरे हौसलों को जैसे पंख लग गये थे और वे आकाश में उड़ रहे थे. देश की ख्यात नाम गायिका बनाने का स्वप्न मुझसे ज़्यादा मेरे अभिभावकों की आंखों ने देखा. न सिर्फ़ मैं बल्कि मेरी अन्य चारों बहनों को भी उन्होंने उच्च शिक्षा दिलायी. तब हालांकि मुझे लेखन में रुचि थी और 'दैनिक भास्कर', 'सातवीं दुनिया' जैसे समाचार पत्रों में मेरी दो एक कहानियां और लेख भी छप चुके थे. लेकिन चूंकि मेरे अलावा साहित्य क्षेत्र में परिवार का कोई सदस्य इस तरह संलग्न नहीं था इसलिए घर में संगीत की ही ज़्यादा पूछ थी. मुझे याद है जिस दिन कहानी अख़बार में प्रकाशित होती पापा सबको अख़बार पढ़ाते. अपने साथ क्लीनिक ले जाते. कई बार कहानी पढ़ते और फिर घर आकर उसकी चर्चा करते और ख़ूब शाबाशी देते. प्रोत्साहन का महत्त्व यहीं मैंने जाना. मेरी मां अनुशासन प्रिय होते हुए भी बहुत खुले विचारों की महिला थीं. वो इतना आधुनिक ज़माना नहीं था. लड़कियों को अपनी आंखों के सामने से दूर करने का उनकी शादी से पहले माता-पिता सोच भी नहीं सकते थे. लेकिन मुझसे सात वर्ष बड़ी मेरी दीदी जिन्होंने डबल एम. ए. किया था न सिर्फ़ उन्होंने भोपाल में अकेले रहकर नौकरी की बल्कि २२ वर्ष की उम्र में यूथ फेस्टीवल में हिंदुस्तान का प्रतिनिधित्व करने ज़र्मनी (बर्लिन) भी हो आयीं और फिर अपने विवाह तक भोपाल में अकेले रहकर एम. एल. बी. कन्या महाविद्यालय में नौकरी की. कुल मिलाकर एक आदर्शवादी और संस्कारी वातावरण था घर का.

लड़की की ज़िंदगी दो हिस्सों में बंटी होती है. एक विवाह से पूर्व, दूसरा विवाह के पश्चात. दूसरा पक्ष उतना ही

अजनबी और रहस्यात्मक होता है जितना आने वाला कल. अब जीवन का दूसरा अध्याय शुरू हो रहा था. उस ज़माने में वर में कुछ ख़ास बातें देखी जाती थीं जैसे सम जाति, खाता-पीता सम्मानीय परिवार, पढ़ा-लिखा और सरकारी नौकरीशुदा लड़का. दिखने भी ठीक-ठाक हो तो सोने में सुहागा. हालांकि मां का जन्मपत्री और गृह नक्षत्रों में कोई विश्वास नहीं था. सो, २३ वर्ष में मेरा विवाह एक विशुद्ध ब्राह्मण, संस्कारी, नामचीन, परंपरावादी और उच्च मध्यम वर्गीय परिवार में हो गया जहां गृह वधु का संगीत, लेखन, नौकरी ये सब 'संस्कार' से इतर की चीज़ें समझी जाती थीं, ऊपर से संयुक्त परिवार. उस परंपरावादी माहौल में तालमेल बिठाना बेहद कठिन था. लेकिन अनुभव जीवन की पाठशाला ही तो होते हैं. उसके बाद लगभग सात-आठ वर्ष जीवन और इच्छाओं का शून्य काल कहा जा सकता है जिसमें शुद्धतः एक ब्राह्मण परिवार की 'संस्कारी बहू' और दो संतानों की मां के उत्तरदायित्व निभाना जीवन का मुख्य एजेंडा रहा. उसी दौरान की घटना है. मैं अपने दोनों नन्हें बच्चों को लेकर मां के घर ग्वालियर आयी थी कुछ दिनों के लिए. काफ़ी कमजोर और हताश थी. मां ने कहा हौसला रखो सब ठीक हो जायेगा. उन्होंने अपनी स्कूल लायब्रेरी से पेपर की कटिंग लाकर एक सूचना दी कि कादंबिनी पत्रिका यहां ग्वालियर में एक कहानी प्रतियोगिता का आयोजन कर रही है तुम्हें वहां जाना चाहिए.

"नॉट पॉसीबल... मैं भूल चुकी हूं लिखना," मैंने मां से कहा.

"ऐसे कोई भूलता है क्या लिखना? ज्ञान कभी बेकार नहीं जाता. परसों मिस हिल्स विद्यालय में प्रतियोगिता है तुम तैयारी कर लो." ज़ाहिर है यह मां का अनुरोध नहीं आदेश था. बहुत मना करने के बाद भी मां नहीं मानीं और मुझे और दोनों बच्चों को लेकर वे प्रतियोगिता केंद्र पहुंचीं. वो लोग बाहर लान में बैठ गये और मैं हाल के भीतर सकुचाई सी दाख़िल हुई. हाल प्रतियोगियों से खचा-खच भरा था. पता नहीं एक हज़ार डेढ़ हज़ार. जैसे स्कूल में कोई परीक्षा चल रही हो सभी मेज़ कुर्सी पर कतारबद्ध बैठे थे. मैं कुछ देर से पहुंची थी. हमें लिखने के लिए अपने पेपर्स लेकर आने थे. मैं एक कॉपी लेकर गयी थी. मुझे सबसे पीछे कोने वाली सीट मिली. जब मैंने लिखना शुरू किया तो मैं धीरे–धीरे भूलती गयी कि मैं हूं कहां. जब आंख उठायी तो ड्यूटी पर कार्यरत एक सज्जन मुझसे टाइम पूरा होने की बात कह रहे थे. मेरी एक सौ बीस पृष्ठ की कॉपी का अंतिम पेज खाली बचा था. बाद में मुझे महसूस हुआ कि इस डेढ़ घंटे में मैंने कितनी स्पीड से कहानी लिखी. कुछ देर मैं अपनी कुर्सी पर ही बैठी रही. कहानी का 'हैंग ओवर' सा कुछ ... जब बाहर निकलकर आयी मुझे लग रहा था कि ज़ेहन में न जाने कितने शब्द और घटनाएं ठसाठस भरी थीं जो निकल चुकी हैं. बहुत हल्का और सुकून महसूस हो रहा है. बाहर मां मुस्कुराती हुई खड़ी थीं. उनकी आंखों की वो ख़ास चमक मैं आज तक नहीं भूली हूं.

"कैसा लगा?" उन्होंने पूछा.

तीन चार दिन बाद जब उसका नतीजा आया तो पुरस्कृत प्रतियोगियों में मेरा नाम था. ये मेरी ज़िंदगी की पहली साहित्यिक प्रतियोगिता थी और पहला ही पुरस्कार. यह पुरस्कार हम प्रतियोगियों ने संसद सदस्य और ग्वालियर के महाराजा माधव राव सिंधिया के हाथ से ग्रहण किया था. अख़बारों में तस्वीरें छपी थीं. उसके बाद फिर वही स्थिति. लेकिन बावजूद इसके बिना किसी आशा के मैं अपनी कहानियां रज़िस्टर में लिखती रहती थी और उन रज़िस्टरों

ग़ज़ल

डॉ. अशोक 'गुलशन'

बहुत मुश्किल से किसी के पास आती ज़िंदगी,
ख़ूब रोती और तब है मुस्कुराती ज़िंदगी ।
हो ख़ुशी दिल में अगर तो रास आती ज़िंदगी,
मुश्किलों में ज़िंदगी से दूर जाती ज़िंदगी ।
मौत की ख़ातिर हमेशा तड़फड़ाती ज़िंदगी,
देख लेती मौत को तो ठहर जाती ज़िंदगी ।
ज़िंदगी के वास्ते ही जी रहे सब लोग हैं,
और सबके वास्ते ही जां लुटाती ज़िंदगी ।
मौत से 'गुलशन' को उल्फ़त हो गयी है इन दिनों,
दूर हो जाती अगर यह जान जाती ज़िंदगी ।

उत्तरी कानूनगोपुरा,
बहराइच- २७१८०१ (उ. प्र.)
मो.: ९४५०४२७०१९.

को अलमारी में रखती जाती थी.

इस बीच राजस्थान में देश के एक नामचीन पब्लिक स्कूल में मेरी नौकरी लग गयी और ज़िंदगी ने एक बार फिर करवट बदली. मैं अपने दोनों बच्चों के साथ नयी नौकरी ज्वाइन करने घरवालों के विरोध के वाबजूद राजस्थान आ गयी. मेरी प्रेरणा मेरे बेटे.

अब नयी ज़िंदगी शुरू होने का दौर था. उस विशाल कॉलेज़ परिसर में आवंटित घर में हम तीन लोग रहते. मैं और दोनों बेटे. बड़ा पुत्र पढ़ाई का कीड़ा था और हमेशा अव्वल आता, लेकिन छोटे को साहित्य और पेंटिंग में गहन रुचि थी. बड़े बेटे ने अव्वल आते-आते स्कूल में एक ख़ास मुकाम हासिल कर लिया और बारहवीं में हेड बॉय बन गया. छोटा उससे अलग फितरत का था. उसकी रुचियां अलग थीं. छुटपन से उसकी यह सोच थी कि डिग्रियां मनुष्य को मशीन में तब्दील कर देती हैं और वह ऐसा होना नहीं चाहता. स्वभाव से शांत, परिपक्व, मितभाषी और धैर्यवान. उस समय अमर चित्रकथा, पराग और चंदामामा घर में आते थे. वह उन्हें ध्यान मग्न होकर पढ़ता. उसके बाद उसने अपने मन से छोटी-छोटी कहानियां लिखना और उन कहानियों पर चित्र बनाना शुरू किया. ड्राइंग के लूज़ पेपर्स ख़रीद कर लाता. उस पर वो एक तरफ़ कहानी लिखता और उसके ठीक सामने उससे संबंधित तस्वीर बनाता. गर्मी के मौसम में बिजली की कटौती होती थी और फिर राजस्थान की गर्मी. उस गर्मी में भी वह पसीने-पसीने होता, ज़मीन पर झुका कुछ लिखता रहता. मैंने एक दिन यूं ही देखा कि यह क्या करता रहता है तो उसकी कहानियां पढ़ीं, चित्र भी देखे. छोटी कहानियां बहुत रोचक और मौलिक थीं और चित्र बिलकुल सजीव. तब मुझे पहली बार उसकी इस प्रतिभा का पता चला. तब वो पांचवीं कक्षा में था. पत्रिका आदि में भेजने का अनुभव तो नहीं था और साधन और जानकारियां भी बहुत कम थीं. लेकिन मैंने उसकी लगन और मेहनत देखकर उन लूज़ पेपर्स को बाइंड करवा कर उसे एक कॉमिक्स की शक्ल देना शुरू कर दिया. बेटा ये देखकर बेहद प्रसन्न होता और लोग उसकी उस 'हैंड मेड कॉमिक्स' को देखकर आश्चर्य चकित रह जाते. दोनों बेटे उसी संस्थान के बॉयेज़ स्कूल में पढ़ते थे. बड़े बेटे ने जब सीनियर सेकेंडरी में टॉप किया तो उसे बिट्स पिलानी में एडमीशन मिल गया. तब छोटा बेटा ग्यारहवीं कक्षा में था. वह पूरे दिन टेबल पर झुका कुछ लिखा करता था. मुझे जानने की उत्सुकता रहती. एक दिन जब वो घर में नहीं था तब मैंने उसकी फ़ाइल खोलकर देखी तो वो एक अंग्रेज़ी का उपन्यास था नाम था 'रेड सिगरेट' सिर्फ़ शब्द ही नहीं बल्कि उसके चित्र भी थे. वो उसका पहला उपन्यास था. उसे देखकर मेरे साहित्यिक मन में भी कुछ हलचल हुई. लगा जैसे किसी ने सोयी हुई आत्मा को झकझोरकर जगा दिया हो. मैं यह कह सकती हूं कि मेरे जीवन में लेखन की दूसरी पारी का प्रेरणा स्रोत मेरा बेटा ही है. वो अंतर्मुखी और अपनी उम्र से अधिक परिपक्व रहा. उसके बाद अगले कुछ वर्षों में उसने कई छोटी कहानियां, चार-पांच हिंदी और अंग्रेज़ी के नाटक लिखे जिन्हें उसी इज़ीनियरिंग कॉलेज़ (बिट्स) में उसने निर्देशित और उनमें अभिनय किया. वे हस्तलिखित रचनाएं और उसके बचपन के वे कॉमिक्स फ़ाइल्स में अलमारी में उसने सहेजकर रखे थे. आज भी मैंने उन्हें एहतियात से रखा हुआ है. हालांकि वे प्रकाशित नहीं हुए. उसकी उन्हें प्रकाशित करवाने में कोई रुचि भी नहीं थी.

मैं खाली समय में कहानियां या कविताएं या मन की कोई बात रज़िस्टर में लिखती जाती थी और उसे अलमारी में रख देती. कई रज़िस्टर भर गये थे. एक दिन छोटे बेटे ने अचानक कहा, ''ये आपका रज़िस्टर है मम्मी?''

''हां,'' मैंने संकोच से कहा. ''कितनी अच्छी भाषा है आपकी.''

''हां, बस यूं ही कुछ मन में आता है तो ...''

''तो फिर लिखती क्यूं नहीं?''

''बस ऐसे ही.''

''आपकी भाषा बहुत अच्छी है. आप लिखा करो. मुझे तो पता ही नहीं था.''

''मुझे भी नहीं पता था.''

''क्या?'' उसने पूछा.

''कि तुम्हारी भाषा इतनी अच्छी है. इनफैक्ट तुम मुझसे कई गुना ज़्यादा अच्छा लिखते हो.''

वो हंसा ... ''नहीं, ऐसा नहीं. आप अच्छा लिखती हैं... बहुत अच्छा.''

मुझे लगा कि यह एक सामान्य सी घटना थी, लेकिन नहीं. उसने निश्चय कर लिया कि मम्मी को लिखने की व्यवस्था, प्रकाशित होने के लिए उत्साहित करना और उन्हें साधन उपलब्ध कराने हैं. जिसमें उन दोनों भाइयों ने गुपचुप

कोई प्लान बनाया था शायद. उसी दौरान छोटे बेटे का एडमीशन भी बिट्स पिलानी में ही हुआ और वहां उसने तुरंत ही मुख्यतः दो उपलब्धियां प्राप्त कीं. पहला कॉलेज़ के हिंदी ड्रामा क्लब का हैड होने और उसके तहत अपने लिखे नाटक का निर्देशन करने का, जिसे बाद में पृथ्वी थियेटर मुंबई में मंचित किया गया और दूसरे एनीमेशन शॉर्ट फ़िल्म के अंतर राष्ट्रीय प्रतियोगिता में कॉलेज़ की ओर से भेजी गयी ''एंट्री'' में जापान में इंडिया के लिए एनीमेटेट शॉर्ट फ़िल्म कैटेगरी में दूसरा स्थान प्राप्त करना. उसे जापान में एक लाख का पुरस्कार भी मिला. तब वो फ़र्स्ट इयर में था.

तब तक घर में कंप्यूटर आ चुका था. दोनों बेटों के लिए कंप्यूटर एक ज़रूरत बन गया था. छोटे बेटे की एनीमेशन में रुचि बढ़ती गयी और एक दिन वह अपना बिट्स फ़ाइनल इयर का दूसरे सेमिस्टर की परीक्षा छोड़कर सिंगापुर चला गया जहां उसका एक विश्व विख्यात एनीमेशन स्कूल में एडमीशन हो गया था. मैं जानती थी वो ज़िद का पक्का है किसी की नहीं सुनेगा. हालांकि अब भी उसके और मेरे सामने चुनौतियों की कोई कमी नहीं थी. जिनमें आर्थिक समस्या सबसे ज्वलंत थी. एक सॉल्व होती तो दूसरी सामने. लेकिन मैंने महसूस किया कि बेटा सब चुनौतियों को पार करने के लिए दृढ़ संकल्पित था. बड़ा बेटा भी तब तक सिंगापुर में ही कॉलेज़ की ट्रेनिंग कर रहा था. उसी फ़ीस से उसने मुझे एक लेपटॉप गिफ़्ट किया. और उस पर हिंदी फॉण्ट डाउनलोड करके टाइप करना सिखाया. मेरा एक ब्लॉग भी बना दिया कि, ''अब रज़िस्टर की ज़रूरत नहीं, यहां लिखिए जो लिखना है.''

हालांकि अब वे दोनों बाहर थे और मैं एक बार फिर अकेली रह गयी. लेकिन यह सोचना मेरी भूल थी. अब मेरे पास पर्याप्त धन था, शिक्षण संस्थान की ओर से रहने को एक सुरक्षित और शानदार घर आवंटित था, एक अच्छी नौकरी, लेपटॉप और समय भी था. तब दोनों बेटे बाहर रहते हुए भी मुझे बार–बार लिखना पुनः प्रारंभ करने के लिए प्रेरित करते. तब मुझे नहीं पता था कि क़िताबें छपवाने के क्या नियम उसूल होते हैं. मेरी पहली क़िताब प्रकाशित करवाने को मुझे पैसे देने पड़े. तब बड़े बेटे ने ही प्रकाशक को पैसे भेजे और मेरी पहली क़िताब प्रकाशित हुई. तब तक कई कहानियां हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने का सिलसिला शुरू हो चुका था. कुछ कहानियों के अनुवाद और पुरस्कार भी मिले थे. जब भी कोई पुरस्कार मिलता या किसी अच्छी पत्रिका में कहानी प्रकाशित होती दोनों बेटे बेइंतिहा ख़ुश होते, सेलीब्रेट करते. मेरी बगल में लेटकर राजा रानी, शेर, कुम्हार की कहानियां सुनते-सुनते छोटा बेटा इतना लायक बन जायेगा कि उसे इंडिया की पहली एनीमेटेड शॉर्ट फ़िल्म कैटेगरी का ऑस्कर जैसे सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार के अंतिम राउंड तक पहुंचने का मौक़ा ही नहीं बल्कि ३७ देशों के फ़िल्म फ़ेस्टीवल में दिखाया, बेहद सराहा और अवार्ड दिये जायेंगे सोचा न था. न जाने कितनी अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं, कितने विदेशी चैनलों, कितने सम्मानों से उसे विभूषित किया गया. ये सिलसिला क़रीब एक वर्ष पहले से शुरू हुआ जो अब तक ज़ारी है. बच्चे जब समझदार हो जाते हैं तो वे मन को पढ़ने लायक भी हो जाते हैं. दोनों बेटों ने लेखन के लिए मुझे बेहद प्रोत्साहित किया. हाल में ही पुस्तक मेले में आये मेरे तीसरे कहानी संग्रह 'काफ़िला साथ और सफ़र तनहा' को मैंने उन दोनों बेटों को ही समर्पित किया है. मुझे अब कोई अफ़सोस नहीं कि मैंने उस उम्र में लिखना शुरू किया जब लेखिकाओं को न जाने कितने पुरस्कार और उनकी क़िताबें प्रकाशित हो जाती हैं. कई हिंदी के विद्वान अक्सर पूछते हैं कि आपकी कहानियों में अन्य विषयों के बनिस्पद नारी विमर्श कम होता है. मैं हंसती हूं, यह सोचते हुए कि मैं स्वयं उस तथाकथित नारी वादी सोच और नारी विमर्श की एक मुख्य किरदार हूं. मैं क्या किसी क्रांति की बात करूंगी. फिलहाल ख़ुश हूं, संतुष्ट हूं कि मुझे मेरे बच्चों ने हताशा के अनेक अंधेरों से निकालकर आज यहां तक पहुंचाया. बच्चे अपने सर्वोच्च स्थान पर हैं, पति भी अब रिटायमेंट लेकर साथ में हैं. मेरे पास आज इफ़रात वक़्त है, अपने पाठकों व बच्चों की तमाम प्रेरणाएं हैं.

डीटीपी के लिए संपर्क करें

समाचार पत्र, पुस्तकों व पत्रिकाओं, इनव्हिटेशन कार्ड, विजिटिंग कार्ड के डीटीपी, ले-ऑउट और डिझाइन के लिए संपर्क करें.

सुगी आर्ट्स

३०२, वडाला उद्योग भवन, वडाला, मुंबई-४०० ०३१.

मो.नं.: ९८३३५४०४९०/९८९२८३११४६

लघुकथा

जागृति

✍ किशनलाल शर्मा

उमेश ने मटके में से घंटी भरकर पानी पीया. फिर एक घंटी भरकर बरामदे में बैठी शकुंतला से बोला, "ले पानी पी ले."

"मैं अपने आप पी लूंगी."

"मैं पिला तो रहा हूं."

"मास्टर जी बेवकूफ नहीं हूं. जानती हूं, आप अपने हाथ से पानी क्यों मुझे पिलाना चाहते हो." उमेश की बात सुनकर शकुंतला बोली, "छूआछूत का केस कर दूंगी."

उमेश शकुंतला की बात सुनकर दंग रह गया. शकुंतला दलित थी और उसी के गांव की थी. वह शहर के स्कूल में चपरासी थी. रोज़ गांव से शहर आने-जाने में उसे बहुत परेशानी होती थी. वह जानती थी, शिक्षा विभाग में उमेश की अच्छी पहुंच है. इसलिए वह रोज़ उमेश के घर पहुंच जाती और अपना ट्रान्सफ़र शहर से गांव में कराने की मिन्नतें करती. और उमेश ने उसका ट्रान्सफर गांव में कराने का वादा कर लिया. जब स्कूल के दूसरों मास्टरों को इस बात का पता चला, तो वे बोले, "मास्टर जी ट्रान्सफ़र तो अपने स्कूल में करा रहे हैं, लेकिन अछूत के हाथ का पानी पीना पड़ेगा."

"ऐसा नहीं होगा. मैं समझा दूंगा.

और उमेश ने ट्रान्सफ़र कराने के पहले शकुंतला को सब कुछ समझा दिया. कुछ दिन तक तो वह ठीक रही. पानी पीना होता था, तो किसी से मांग लेती थी. लेकिन आज उसने रंग बदल लिया था.

शकुंतला के बदले तेवर देखकर उमेश ने सोचा. अगर उसने सचमुच छुआछूत का केस कर दिया तो...?

और वह घंटी मटके पर रखते हुए बोला, "अच्छा तू पी लेना."

✉ १०३, रामस्वरूप कॉलोनी, शाहगंज, आगरा- २८२०१०. मो. : ९४५८७४०१९६

सहयात्री.... (पृष्ठ - ३८ का शेष भाग.)

के पीछे क्या है...' गाना ज़ोर से बजने लगा. सब बूढ़े लोग बड़बड़ाने लगे. कोई सो नहीं पा रहा था. लेकिन बस के केबिन में बैठे वे शोहदे ख़ूब मस्ती कर रहे थे. मालती को बहुत बुरा लग रहा था. उसने सोचा कि वो जाकर उनसे हाथ जोड़कर कहे कि बेटा बंद कर दो गानें, रात बहुत हो गयी है. थके हुए भी हैं सब. मालती ने देखा कि अभी कुछ देर पहले एक औरत को उल्टी हो गयी थी और उसने खाना भी नहीं खाया था वो परेशान हो रही है. उसका पति जो बूढ़ा और कमज़ोर-सा था उठकर बस में आगे गया और उसने केबिन के लड़कों से गाने बंद करने को घिघियाते हुए कहा लेकिन उन्होंने बूढ़े को हड़का दिया और वो लौट आया.

अचानक मालती की देह में न जाने कैसी फुर्ती आ गयी. वो उठी और चलती बस में लड़खड़ाती-सी सबसे आगे जाकर उसने केबिन की वह शीशे की खिड़की खटखटायी. ड्राइवर ने मुड़कर देखा और इशारे से कंडक्टर से कुछ कहा.

एक लड़के ने आधी खिड़की खोल कर कहा, "का बात है अम्मा."

"जे गाने बंद करो...जे बस है कोई सिनेमा घर नहीं..." मालती को ख़ुद नहीं समझ में आ रहा था कि उसकी आवाज़ में इतना ज़ोर कहां से और कैसे आ गया?

"ठीक है..." कहकर लड़के ने खिड़की बंद कर ली. जब तक मालती अपनी सीट पर वापिस आयी तब तक गाने बंद हो चुके थे.

☐

सुबह की मद्धम रोशनी फैलने लगी थी. पूरी बस में अथाह शांति थी सिवाय उसके चलने की आवाज़ के. केबिन में भी सब लड़के उलटे–पुल्टे सो रहे थे.

मालती ने खिड़की से बाहर देखा. पुराने चश्मे से नयी सुबह कितनी सुंदर और साफ़ लग रही थी.

✉ ए- ३, शिरजी पार्क सोसायटी,
आशीर्वाद सोसायटी के पास,
हारनी वारसिया रिंग रोड, वड़ोदरा-
३९०००६. मो.: ९९२८८३१५११.
ई-मेल : shuklavandana46@gmail.com.

सागर/सीपी

'सर्जन अपने आप में साधन नहीं, साध्य है !'

विज्ञान व्रत

'विज्ञान व्रत अपनी ग़ज़लों के कैनवास पर छोटी-छोटी आकृतियों, छोटे-छोटे बिंबों, छोटी-छोटी भावनाओं और अहसासों का एक शानदार समुच्चय तैयार करते हैं बिलकुल अपनी चित्रकृतियों की तरह जिस तरह इन छोटी-छोटी चीज़ों से ही हमारी ज़िंदगी बड़ी बनती है, वैसे ही विज्ञान व्रत की ग़ज़लें भी.' श्री अभिरंजन कुमार के इन शब्दों से विज्ञान व्रत के वामन से विराट हुए व्यक्तिव्य की झलक मिलती है. 'खिड़की भर आकाश' (दोहा संग्रह), 'तब तक हूं मैं', 'जैसे कोई लौटेगा', 'बाहर धूप खड़ी है, 'मैं जहां हूं' (ग़ज़ल संग्रह) एवं अनंत चित्रकला प्रदर्शनियों में अपनी कलाकारिता की भागेदारी रखने वाले प्रतिष्ठित ग़ज़लकार एवं चित्रकार ***श्री विज्ञान व्रत*** *से* ***श्रीमती मधु प्रसाद*** *की बातचीत.*

➤ वर्षों से आप साहित्य एवं कला की साधना कर रहे हैं. आप सशक्त ग़ज़लकार, दोहाकार ही नहीं वरन बालगीत में भी अपनी पहचान बनाये हुए हैं. लेख, समीक्षाएं भी आपकी क़लम से अछूती नहीं रही हैं. चित्रकला प्रदर्शनी आपकी विशेष उपलब्धि रही है. एक लंबी यात्रा तय की है आपने. इस यात्रा के प्रथम और सबसे मोहक पड़ाव यानी बचपन से आज की वार्ता शुरू करना चाहूंगी. एक ग़ज़लकार, चित्रकार, विज्ञान व्रत के पहली पायदान के कुछ संस्मरण, कुछ यादें.

मधुजी! काश मेरा बचपन और बच्चों की तरह गुज़रता. पिताजी से डांट के अलावा शायद ही कभी कुछ और मिला हो, वो हरेक क्षेत्र में सख़्ती से पेश आते थे — चाहे वह पढ़ाई की बात हो, खान-पान का मुआमला हो, पहनने-ओढ़ने की बात हो या फिर भाषागत उच्चारण संबंधी विषय. हां, एक आध बार या तो सिर्फ़ एकाध बार ही मां के प्यार भरे शब्द याद हैं. 'लोरी' जैसे शब्द तो मैंने केवल पुस्तकों में ही पढ़े हैं. मेरी हर गतिविधि पर सख़्त पहरा था. सिर्फ़ दो चार खानदानों के बच्चों के साथ खेलने और मिलने-जुलने की छूट थी. हर किसी के साथ खेलने को आज़ादी नहीं थी.

मैं स्वयं को भाग्यशाली मानता हूं कि एक संभ्रात किसान परिवार में जन्मा. परिवार में मेरे चाचा और पिता जी उच्च शिक्षा प्राप्त थे. मेरे चचेरे भाई भी सब डॉक्टर, प्रोफ़ेसर वग़ैरह रहे. बचपन से ही सब कुछ इफ़रात में देखा — खाना-पीना, दूध-घी, बड़े घेर-घर, हवेलियां, गाय-भैंसें, बैल, ऊंट. हमारे तीन कुएं भी थे. तीनों में रहट लगे हुए थे जिनसे हमारे खेतों में सिंचाई होती थी. सदा बड़े-बड़े कॉलेज़ों में, जिन शहरों में चाहा वहां पढ़ा.

➤ जीवन एक ऐसा कोष है जिसमें यादों का अकूत भंडार है. बचपन की गलियों से निकलकर यौवन की देहरी तक तथा शिक्षा अर्जित करने की दिशा कैसे निर्धारित की. रंगों से, तूलिका से कब कैसे गठबंधन हुआ?

मेरी शिक्षा की शुरुआत मेरठ में बेग़मपुल के पास एक स्कूल 'सोफ़िया कॉन्वेन्ट' से हुई, मुझे आज भी याद है कि गांव से क़रीब एक मील दूर पक्की सड़क पर मोटर आती थी जिसमें मैं स्कूल जाता था. कुछ समय बाद मेरा प्रवेश दौराला मिल के 'सर श्री राम हायर सैकेन्डरी स्कूल' में करवा दिया गया और इसी स्कूल में मैं कक्षा एक से आठवीं तक पढ़ा. चौथी और पांचवी कक्षाएं एक वर्ष में उत्तीर्ण कीं, क्योंकि चौथी कक्षा की छमाही परीक्षा में दोनों सेक्शनों में मैंने सर्वाधिक अंक प्राप्त किये. उस समय ऐसा नियम था, यदि छमाही में सर्वाधिक अंक हों तो कक्षा पांच में पहुंचा दिया जाता था. यानी एक वर्ष में दो कक्षाएं.

मधुजी वैसे तो मुझे याद है कि पहली कक्षा से ही मेरा रुझान चित्रकला में हो गया था. मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि जब मैं दूसरी कक्षा में था तब मैंने एक शेर का चित्र बनाया था. हां, तो दसवीं कक्षा के बाद मेरा दाख़िला हुआ दिगंबर जैन कॉलेज़ बड़ौत में और यहीं

आकर मेरी चित्रकला को पंख लगे. कॉलेज़ में आकर 'पोस्टर कलर्स' से मेरा परिचय हुआ. और मैं चित्रकला में रमता गया. बारहवीं कक्षा के बाद मैंने बी. ए. में हिंदी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के साथ विशेष रूप से चित्रकला विषय लिया. सौभाग्य से बी. ए. में चित्रकला के गुरू थे श्री रघुवंश कुमार भटनागर. बस उन्हीं के द्वारा मेरा परिचय वास्तविक रूप से चित्रकला संसार से हुआ. आदरणीय भटनागरजी आधुनिक कला के 'आधुनिक' चित्रकार हैं और उन्हीं की प्रेरणा से बी. ए. करने के बाद चित्रकला में एम. ए. करने के लिए मैंने देहरादून जाकर डी. ए. वी. कॉलेज़ में प्रवेश ले लिया. ख़ूब जमकर काम किया. केवल एक ही धुन थी चित्रकला. एम. ए. प्रथम वर्ष की परीक्षाएं हुईं. चूंकि मुझे दुनियादारी नहीं आती थी, इसलिए प्रैक्टिकल्स में मुझे विभागाध्यक्ष ने संभवत: सबसे कम नंबर दिलवाये. मैं भीतर तक टूट गया. मैं आत्ममुग्ध नहीं था वरन् वास्तविक रूप में अपने कार्य का स्तर जानता था. बहरहाल... ख़ून गर्म था और आवेश में अध्यक्ष महोदय की ख़ूब जमकर 'शारीरिक समीक्षा' की. एम. ए. फाइनल करने के लिए आगरा कॉलेज़ में जाकर प्रवेश लिया. वहां अध्यक्ष थे आदरणीय शुक्ल जी! ख़ूब काम किया, ख़ूब सीखा रात-दिन. लेकिन प्रैक्टिकल एक्ज़ाम्स तो उन्हीं लोगों के हाथ में थे ना. एम. ए. फाइलन में मुझे विश्वविद्यालय स्तर पर कोई भी पोज़ीशन नहीं मिली. मैं जो कॉलेज़ में प्राध्यापक बनने का सपना पाले बैठा था, ध्वस्त हो गया. क्या करूं, कहां जाऊं? इसी उधेड़बुन में मैंने बी. आर. कॉलेज़ में अंग्रेज़ी में एम. ए. करने के लिए दाख़िला ले लिया और एम. ए. प्रथम वर्ष अच्छे अंकों से उत्तीर्ण करने के उपरांत मैं दिल्ली आ गया और केंद्रीय विद्यालय में कला अध्यापक बना.

➤ कोई ऐसा रोचक या अविस्मरणीय प्रसंग जिसकी स्मृति मानस पटल पर आज भी ताज़ी है.

मधुजी, यूं तो बहुत से प्रसंग हैं जो आज भी हृदय पटल पर ज्यों के त्यों अंकित हैं. फिलहाल यहां मैं अपनी ज़िंदगी का एक प्रसंग बताता हूं. तीसरी कक्षा उत्तीर्ण कर चौथी में गया. तीसरी कक्षा में दोनों सेक्शनों में तृतीय स्थान था. कक्षा में मैं सबसे छोटा था बाक़ी बच्चे बड़े-बड़े थे. दो लड़के धूम सिंह और सोरन सिंह तो काफ़ी बड़े थे. एक लड़का और था ओम प्रकाश. लंबा छरहरा वह परीक्षा में प्रथम आता था और इसीलिए क्लास का मॉनीटर भी रहता था. बड़ा रौब था उसका. गुरूजी की अनुपस्थिति में वही कक्षा का सर्वेसर्वा हुआ करता था. सब बच्चे उससे परेशान थे लेकिन उससे छुटकारा पाने का कोई चान्स था ही नहीं. क्योंकि कक्षा में जो प्रथम होता था मॉनीटर वही होता था. कक्षा अध्यापक थे श्री चौहान साहेब, पास के गांव मटौर के रहने वाले थे. गौर वर्ण, चमकता चेहरा, भरपूर तेल से भीगे लेकिन करीने से कंधी किये हुए बाल — एकदम काले. हाथ में दो ढाई फुट की क़रीब एक इंच मोटी बेंत बच्चों को सुधारने के लिए. जहां तक मुझे याद है मुझे न कभी किसी मॉनीटर ने हाथ लगाया और न किसी अध्यापक ने कभी दंड दिया. इसका कारण संभवत: मेरा कक्षा में सबसे छोटा होना या फिर मैं दिखने में लल्लू और निरीह लगता था इसलिए 'क्या मारें इसे' सोचकर नज़रअंदाज कर देते होंगे. हमारी छमाही परीक्षाएं हो चुकी थीं. हमारे पास स्याही की दवातें होती थीं जिनको स्याही से भरने चिरंजीलाल नामक एक चपरासी आता था. झबरी मूंछें, ख़ाकी वर्दी लंबे बाल, पीछे को कंधी किये हुए और मेंहदी से रंगे हुए. कुल मिलाकर आकर्षक और मजेदार व्यक्तित्व था चिरंजीलाल का. बेत की कुर्सी पर गुरूजी विराजमान थे. सामने मेज़ पर रज़िस्टर, कुछ क़ागज़ात और डंडा. साथ में खड़ा था ओम प्रकाश कक्षा मॉनीटर एकदम मुस्तैद. माता-पिता को अर्धवार्षिक परीक्षा की कॉपी दिखाकर हस्ताक्षर सहित वापिस देनी होती थी. गुरूजी जिस बच्चे का नाम बोलते वह बच्चा अपने अंक बताता, मॉनीटर अपनी लिस्ट से चैक करके अंकों का जोड़ बताता और गुरूजी अपने रज़िस्टर में निशान लगा कर नोट करते जाते. यही क्रम ज़ारी था. मेरा नंबर आया — 'विज्ञान व्रत खड़े हो जाओ.' मेरे सारे प्राप्त नंबरों का ग्रैंड टोटल किया गया. मॉनीटर ने धीरे से गुरूजी के कान में कुछ कहा. गुरूजी मेरे अंकों का स्वयं ही टोटल करने लगे. तभी उनके मुंह से बेसाख़्ता निकला — 'अरे विज्ञान व्रत तो फ़र्स्ट आ गया.' जैसे ही बच्चों ने सुना एकदम चिल्ला उठे, 'होऽऽऽ.' सबने मुझे घेर लिया. सब ख़ुश हुए कि अब विज्ञान मॉनीटर बनेगा और ओमप्रकाश नाम के मॉनीटर रूपी दानव से सबको त्राण प्राप्त होगा. लेकिन होना तो कुछ और ही था. चिरंजीलाल को मेरे प्रथम स्थान प्राप्त करने की सूचना मिल गयी थी. उसने यह शुभ सूचना हेड मास्साब को दे दी. हेड मास्साब श्री राम सिंह जी ने कक्षा में प्रवेश किया. सब बच्चे खड़े हो गये. गुरूजी भी काम छोड़कर

उनके अभिवादन में खड़े हो गये. हेड मास्साब आते ही सबसे पहले मेरे पास आये और सर पर हाथ रख कर कहा, 'कल से तुम बड़े स्कूल आओगे, तुम अब पांचवी में हो.' मुझे आज भी याद है सब बच्चों के उदास चेहरे, क्योंकि मैं चला जाऊंगा तो मॉनीटर फिर वही ओम प्रकाश बनेगा जो कक्षा में द्वितीय स्थान पर था. शाम को जब मां ने पिताजी के दफ़्तर से लौटने पर मेरे प्रथम आने की सूचना दी और बताया कि कल से वह बड़े स्कूल में जायेगा तो छूटते ही उन्होंने कहा — 'ठीक है, ठीक है. कौन-सा एम. ए. में फ़र्स्ट आया है?' मेरे पिताजी ने मुझे कभी प्रोत्साहन नहीं दिया. यह बात मुझे आज भी कचोटती है और गुरूजी श्री चौहान साहब मेरे प्रथम आने पर परेशान क्यों हुए थे. यह प्रसंग मुझे आज भी बेहद टीसता है.

एक बात और बचपन से ही मुझे इस बात का स्पष्ट आभास था कि मैं किसी विशिष्ट और रचनात्मक कार्य के लिए जन्मा हूं. चौथी-पांचवी कक्षा से ही नाटकों और वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेने लगा था. नवीं क्लास में तुकबंदियां करने लगा था. गांव में सम्राट अशोक पर आधारित नाटक में अशोक का पार्ट किया था. मेरे चाचा भी मुझे सदैव हतोत्साहित करते और सार्वजनिक रूप से अपमान भी करते. उनके इस दुर्व्यवहार और क्रूरता को आज भी विस्मृत नहीं कर पाया हूं.

➤ साहित्य की अनेक विधाओं में से ग़ज़ल को आपने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना. ग़ज़ल कहने में आपकी अपनी अलग शख़्सियत रही है. इस चयन के पीछे कोई विशेष कारण, आकर्षण या मोह या कोई प्रेरणा?

जी! यह ठीक है कि लोग मुझे ग़ज़लकार के रूप में ही जानते हैं. ग़ज़ल संग्रहों के अतिरिक्त एक दोहा संकलन 'खिड़की भर आकाश' भी है. लेकिन मधुजी मेरे लेखन की शुरुआत गीतों से हुई. प्रारंभ में मैंने क़रीब ३५-४० गीत लिखे — गोष्ठियों में सुनाये भी और तथाकथित 'वाह वाह' भी हुई. इसके बावजूद मुझे लगता रहा कि गीतों के द्वारा मैं जो कहना चाहता हूं वो नहीं कह पा रहा हूं. बस इसी के चलते ग़ज़लों की तरफ़ रुख किया. एक दिन अचानक एक पंक्ति अवतरित हुई, 'सब कुछ एक बराबर है.' मैं कहीं जा रहा था. मैं गंतव्य की ओर जाने की बजाय वापिस घर की ओर चल पड़ा. घर तक आते-आते ग़ज़ल हो गयी- मतलआ यूं हुआ —

सब कुछ एक बराबर है,
कितना झूठ सरासर है.

जहां तक चुनाव का प्रश्न है मैंने किसी विधा को नहीं चुना अपितु आत्माभिव्यक्ति के माध्यमों ने मेरा चुनाव किया. मुझे ग़ज़लों ने चुना, दोहों ने चुना, चित्रकला ने चुना. आपने आकर्षण की बात कही है तो ग़ज़लों ने मुझे आकर्षित किया और आज भी यह आकर्षण बरकरार है. जहां तक प्रश्न है प्रेरणा का तो मैं आपको स्पष्टत: बता दूं कि मेरे परिवेश में घटित होने वाली घटनाएं मुझे प्रेरित करती, बाध्य करती हैं लिखने के लिए. कोई प्रेमिका या व्यक्ति विशेष मेरा प्रेरणा स्रोत नहीं है. बचपन में जिन रचनाकारों को पढ़ा और जो मुझे अच्छे लगे उनके प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ. लेकिन उनका प्रभाव मेरी रचनाओं में अवतरित हुआ तो ऐसा नहीं है. घर में उपलब्ध रामायण, रामचरित मानस, वेद-वेदांग, उपनिषद, सत्यार्थ प्रकाश आदि. साहित्यकारों में प्रेमचंद, यशपाल और सुदर्शन. 'मानसरोवर' के सारे भाग लगातार पढ़ डाले. आगे चलकर कोर्स की पुस्तकों के अलावा कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि को पढ़ा. गीता कोर्स में थी इसलिए भी और पढ़ी. बी. ए. में हिंदी विषय था अत: जयशंकर प्रसाद, पंत, जायसी, सूर, हरिऔध, कबीर, रहीम वग़ैरह सभी पढ़े. मैथिलीशरण गुप्त का द्वापर पढ़ा. जिन कवियों को सुना और आत्मसात किया उनमें श्री भारत भूषण, रमावतार त्यागी, किशन सरोज, देवराज दिनेश, बलवीर सिंह 'रंग'. भारत भूषण के गीतों ने बहुत प्रभावित किया. उर्दू के साहित्यकारों में ग़ालिब, फिराक़, जिगर, ज़फर, क़ैफ़ी आज़मी, साहिर और अमीर कज़ल बाश प्रमुख हैं. इधर कैफ़ भोपाली, निदा फ़ाज़ली, मुनव्वर राना आदि को पढ़ा. अश्वघोष एवं प्रो. देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' मेरे प्रिय नवगीतकार हैं. कुमार रवींद्र, यश मालवीय, कृष्ण शलभ, नईम, मधु प्रसाद आदि गीतकारों को पढ़ना अच्छा लगता है. कुंवर बेचैन के शुरुआती नवगीतों की उठान मुझे अच्छी लगी.

➤ आपने गीत विधा को भी सहेज कर रखा है. गीत-नवगीत पर नित चर्चाएं चलती रहती हैं. क्या है आपका मंतव्य इन विधाओं पर, क्या नवगीत का भी गीत होना पहली शर्त होना चाहिए?

गीत-नवगीत को लेकर विद्वानों के अलग-अलग मत

हैं. कुछ कहते हैं कि गीत और नवगीत दो विधाएं हैं ही नहीं. कुछ लोग कहते हैं कि गीत पारंपरिक और व्यक्तिपरक है. जबकि नवगीत परंपरा का निर्वहन तो करता है लेकिन वैयक्तिक न होकर आज के समाज और परिवेश को नये बिंबों द्वारा नव्यतम शिल्प और शब्द विधान में उकेरता है. मेरे विचार में दोनों विरोधी नहीं हैं. प्रत्येक नवगीत अंततः गीत ही है लेकिन हरेक गीत को नवगीत नहीं कहा जा सकता.

➤ आपके उपन्यास लेखन की ओर झुकाव का केंद्र क्या है? हालांकि मैंने अभी तक आपका कोई उपन्यास पढ़ा नहीं है. इस दिशा में परिवर्तन के विषय में बतायें.

जिस उपन्यास की ओर आपका इशारा है वह आंशिक रूप से लिखा जा चुका है. उसके केंद्र में वही सब कुछ है जो मैंने व्यक्तिगत, पारिवारिक या सामाजिक स्तर पर झेला है. यानी वह परिवेश जो मैंने जिया, वे यंत्रणाएं जो मैंने भोगीं, वे उपेक्षाएं जिनका मैं शिकार रहा या वे विसंगतियां, विकृतियां और विद्रूपताएं जिन्होंने मुझे क्षत-विक्षत किया. बचपन से ही उपन्यास मैंने बहुत पढ़े लेकिन मेरा उपन्यास या उसकी विषय वस्तु किसी उपन्यास का प्रतिफलन नहीं है. जहां तक दिशा का प्रश्न है तो मेरी दिशा तो वही है जो ग़ज़लों और दोहों में है. हां, विधा थोड़ी अलग है.

➤ आपकी कलाकृतियों का अपार संग्रह है. भारत एवं विदेशों के कला केंद्रों में आपने चित्रकार के रूप में अशेष यश प्राप्त किया है. चित्रकारिता एवं साहित्य का बराबर संतुलन है. आपकी हर अभिव्यक्ति में. इतना कुछ कैसे कर लिया?

जी मधुजी, यह प्रश्न मुझसे अक़्सर पूछा जाता है कि मैं लेखन और चित्रकारी में संतुलन कैसे रख पाता हूं. तो मेरे लिए यह एक सहज प्रक्रिया है. ठीक वैसे ही जैसे हम खाना खाते-खाते सांस लेते हैं, जैसे मैं अपनी दोनों बेटियों से एक समय में एक जैसा प्यार करता हूं. मैंने यह कभी महसूस ही नहीं किया कि मैं दो विधाओं में जी रहा हूं. ये दोनों विधाएं मुझे साधती हैं. और जहां तक यह प्रश्न है कि यह सब कैसे कर लिया? तो बता दूं कि मैंने कुछ नहीं किया. बस हो गया. कभी सोचा नहीं, कभी प्लानिंग नहीं की ठीक वैसे ही जैसे कोई नदी की धारा में बहाव के साथ बस बहता जाय. कभी काग़ज़ पर, कभी कैनवस पर. कई समीक्षकों ने टिप्पणी करते हुए कहा कि 'विज्ञान व्रत अपनी लेखनी में ब्रश रखता है और उसके ब्रश में शायद क़लम है.'

➤ वर्षों मैं भी केंद्रीय विद्यालय से जुड़ी रही हूं. पिछले वर्ष ही सेवा निवृत्त हुई. क्या अनुभव रहा आपका संगठन में कार्य करने का? आज की युवा पीढ़ी के व्यक्ति जो कला शिक्षक के रूप में चयनित तो हो जाते हैं पर कला से काफ़ी दूर हो जाते हैं. इसके अपवाद भी बहुत हैं जैसे आप. आपने शिक्षक के रूप में यात्रा प्रारंभ की और शीर्षस्थ चित्रकार के रूप में स्वयं को सुस्थापित किया. क्या कहना चाहेंगे, शिक्षा, चित्रकला या दोनों को आत्मसात कर लेने के विषय में?

मधुजी, केंद्रीय विद्यालय की नौकरी मैंने दो कारणों से की. पहला कारण था कि मेरा चयन किसी कॉलेज़ में लेक्चररशिप के लिए नहीं हुआ. क्योंकि एम. ए. प्रथम वर्ष में प्रैक्टिकल एक्जाम्स में डी. ए. वी. कॉलेज़ के पेंटिंग विभागाध्यक्ष ने निकृष्टता की हदें पार करते हुए संभवतः मुझे सबसे कम नंबर दिलवाये थे. दूसरे मुझे ज़्यादा भटकना नहीं पड़ा. अपितु एक दो प्रयासों में ही मुझे केंद्रीय विद्यालय में चयनित कर लिया गया. दूसरी बात केंद्रीय विद्यालयों में कला अध्यापकी और कला अध्यापन का अनुभव. मधुजी! मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि केंद्रीय विद्यालयों में कला अध्यापक के लिए करने को कुछ है ही नहीं. इसका सबसे बड़ा कारण कि पीरियड तो थे लेकिन पाठ्यक्रम नहीं. पाठ्य पुस्तकें नहीं. कला की विभिन्न शैलियों का परिचय या इतिहास जानने-समझने के लिए कोई पुस्तक नहीं. उत्तर प्रदेश शिक्षा बोर्ड में ड्राइंग पेंटिंग एक विषय के रूप में कक्षा नौ से पढ़ाया जाता है. पर अपने यहां ऐसा उपक्रम अभी तक नहीं है. यह तो कहिए कि जॉब सैटिस्फेक्शन के लिए मैंने काफ़ी कुछ किया कि सुर्ख़रु रह सकूं. अंक भी ग्रेड्स में देने होते थे. ग्रेड्स भी ठीक-ठाक देने पड़ते थे.

मधुजी! मैंने अपने भीतर के चित्रकार, कवि, लेखक को कला अध्यापक की नौकरी के साथ कभी गड्डमड्ड नहीं किया. मैं जब स्कूल में प्रवेश करता था तो अपने भीतर के क्रिएटिव कलाकार और कवि को बाहर गेट पर जमा करा देता था. विद्यालय में अध्यापकों का एक बॉस होता है. वह कुछ न जानते हुए भी 'सर्वज्ञ' होता है. वह जीव साहित्यकार, चित्रकार, वैज्ञानिक और खिलाड़ी सब कुछ होता है और नौकरी के चलते मुझे इसी प्रिंसिपल नामक जीव से संचालित होना था. करीब २० फ़ीसदी प्राचार्य ऐसे मिले जिन्होंने मुझे

विज्ञान व्रत की दो ग़ज़लें

पहले अपना नाम पता कर,
फ़िर ख़ुद को ख़त रोज़ लिखा कर ।
देख शहर में रहना है तो,
मन में रखना गांव बचाकर ।
क्या देखा करते हो मुझमें,
तुम ख़ुद से भी आंख बचाकर ।
एक ज़माना याद दिलाया,
उसने अपना नाम बताकर ।
आज चलो ताबीरें ढूंढ़े,
अपने-अपने ख़्वाब सुनाकर ।

जब तक हर इक दुख ना सह ले,
कैसे कोई ज़िंदा रह ले ।
एक खिलौना ही बन जाऊं,
बच्चों का मन कुछ तो बहले ।
मुझको मेरा घर दे दो बस,
रक्खो अपने महल-दुमहले ।
नामुमकिन ताबीरें जिनकी,
क्यूं देखें वो ख़्वाब सुनहले ।
एक मुख़्तसर ग़ज़ल ज़िंदगी,
इसमें कोई क्या-क्या कह ले ।

समझा और विद्यालय और बच्चों के लिए मेरा और मेरे टेलैन्ट का सदुपयोग किया.

जहां तक प्रश्न है आजकल युवा अध्यापकों का तो आजकल जिन आर्ट्स कॉलेज़ों या विश्वविद्यालयों से वे लोग शिक्षा प्राप्त करके आते हैं वहां अब न तो शिक्षकों में पहले जैसा समर्पण है और न छात्रों में वह पात्रत्व. आप इस बात से सहमत होंगी कि जिस प्रकार साहित्य में एम. ए. करना और साहित्यकार होना दो अलग-अलग बातें हैं ठीक उसी प्रकार चित्रकला में मास्टर्स डिग्री लेकर जो व्यक्ति कला अध्यापक बना वह चित्रकार भी हो यह आवश्यक नहीं.

➤ **आज की युवा पीढ़ी सक्रिय है, हमारी आपकी सोच से आगे भी है फिर भी जो गंभीरता, मैच्योरिटी जीवन की जटिलताओं और विषमताओं से जूझने की शक्ति, विरोध, विसंगतियों को सामना करने का साहस और सही दिशा का चयन जो होना चाहिए उसका कहीं न कहीं अभाव सा लगता है. एक अफ़रातफ़री सी है माहौल में, संबंधों में, व्यवहार में. इस युवा पीढ़ी को अपने दायित्व का निर्वहन एवं मूल्यांकन सही करने के लिए क्या करना चाहिए?**

जी, आपने बिल्कुल ठीक कहा मधुजी! आज की युवा पीढ़ी बहुत तेज़ है. आज की पीढ़ी का एक्सपोज़र भी बहुत है. आज मनचाही दिशाओं में बढ़ने के अवसर भी अधिक हैं. इतना सब होने के साथ-साथ प्रतिस्पर्धा भी बढ़ी है. तेज़ी में ठहराव नहीं है और ठहराव नहीं होगा तो गांभीर्य का अभाव तो होगा ही. पहाड़ी नदी में न ठहराव है और न गहराई. यही नदी जब मैदान में जाकर बहती है तो उसमें ठहराव भी होता है और गांभीर्य भी. यही हमारी रचनात्मकता का आधार भी है. वेद–वेदांग और हमारे महान ग्रंथ गांभीर्य का ही प्रतिफलन हैं. आज की युवा पीढ़ी या तो शहर में पली बढ़ी है या फिर बाहरी जीवन से आक्रांत है. रचनाकार का ज़मीन से जुड़े रहना आवश्यक है. रचनाकार का ज़मीनी हक़ीकतों से रूबरू होना नितांत आवश्यक है. वाल्मीकि रामायण की रचना किसी दिल्ली या मुंबई में नहीं हुई थी. तुलसीदास ने किसी रिज़ॉर्ट में बैठकर रामचरित मानस नहीं लिखा था. कालीदास, भवभूति, माघ, दंडी, भारवि, बाणभट्ट और बल्लाल का साहित्य संसार किसी मैट्रोपोलिटन सिटी की देन नहीं है. जीवन की जटिलताओं से दो–चार होते हुए ही रचनाकार को सही दिशा निर्धारित करने का विवेक प्राप्त होता है. आपने अफ़रातफ़री और गंतव्य की बात की है. दिल्ली से बैंगलुरु जाने के लिए हवाई ज़हाज से दो या ढाई घंटे का समय चाहिए और यदि ट्रेन से तय करना है तो ३०-३२ घंटे का है. पैदल चलने से वह अवधि बढ़ जाती है. यह तो नयी पीढ़ी को तय करना है कि उन्हें अपने गंतव्य तक कैसे पहुंचना है. किसी भी ध्येय की प्राप्ति के लिए धैर्य और तितिक्षा अनिवार्य तत्व है.

➤ **ग़ज़ल कहने की आपकी अपनी विशिष्ट शैली है सीधे सरल शब्दों में जीवन की गहरी से गहरी बात आप कह देते हैं.**

'बनेगा वो, मिटेगा जो.'

'आपका शायर गहरी टीस से जन्मा है,' श्री

कुबेर दत्त जी कहते हैं. क्या है वह टीस या मलाल या कहीं कोई उपेक्षा या कोई खोज ?

मधुजी किसी कार्य विशेष को निरंतर साधते-साधते शैली स्वमेव बन जाती है. शैली प्रयत्न करके नहीं बनायी जाती. जहां तक प्रश्न है किसी 'टीस' का तो ऐसे न जाने कितने ज़ख्म हैं जो अब भी पूरी शिद्दत से टीसते हैं. न जाने कितने दर्द हैं जिन्हें आज भी भुला नहीं पाया हूं. न जाने कितनी उपेक्षाएं हैं जो मैंने जीवन में झेली हैं जिन्हें भूल पाना मेरे बूते के बाहर है. बहुत सारे शून्य हैं जिन्हें मैं अपने रचनाकर्म से भरने की कोशिश करता रहता हूं. मैं लगातार अपनी खोज में रहता हूं और इसी खोज की शिद्दत और नैरंतर्य का ही प्रतिफलन है मेरा रचना संसार और चित्र. अपने समय को जीता हूं इसलिए रचना कर्म समय सापेक्ष तो होगा ही.

➤ **एक शिक्षक, एक चित्रकार, एक साहित्यकार कभी सेवा निवृत्त नहीं होते. आपने सभी रोल बख़ूबी निभाये हैं और निभा रहे हैं. क्या है इस अदम्य ऊर्जा, जिजीविषा, और सर्वात्मना समर्पित रचनात्मकता का रहस्य? नयी पीढ़ी को इस देश को आगे बढ़ाने, स्वयं आगे बढ़ने और सृजनशील रहने के लिए क्या तैयारी करनी चाहिए?**

देखिए मधुजी, अब तक जो रचना कर्म हुआ है वह भगवत कृपा और मां-बाप तथा सदगुरुओं के आशीर्वाद और अपेक्षाओं का परिपाक है. हर समय गतिशील रहने और कार्य करते रहने से ही ऊर्जा प्राप्त होती है. 'चरैवेति चरैवेति' तो संभवत: १५-१६ वर्ष की आयु में ही सुनने को मिल गया था. फिर संस्कृत पढ़ाने वाले शास्त्री जी ने एक श्लोक का अर्थ ऐसा समझाया कि वह श्लोक उसी क्षण कंठस्थ हो गया और आज भी है :-

गच्छन् पिपीलिको याति योजनानाम् शतान्यपि ।
अगच्छन् वैनते मोऽपि पदसेवकम् न गच्छति ।।

बस इसी सूत्र से प्रेरणा और ऊर्जा प्राप्त होती है. बिना इस बात के वहम के कि मैं कोई प्रतिष्ठित चित्रकार या सफल ग़ज़लकार हूं, जब कोई रचना हो जाती है तो उसके होने के आनंद से ही अनवरत ऊर्जा उद्‌भूत होती है. जिस प्रकार एक नदी अपने उद्‌गम से समुद्र में विलीन होने तक सतत प्रवाहमान रहती है ठीक वैसे ही रचनाकर्म में भी नैरंतर्य एक आवश्यक तत्व है. तप करने के उपरांत ही हमें सिद्धि प्राप्त हो सकती है या होती है. वर्षों साधना करने के उपरांत ही साधक शास्त्रीय गायन या वादन में पारंगत हो पाता है. किसी भी कला में निष्णात होने के लिए कोई शॉर्टकट नहीं है. युवा पीढ़ी के लिए कहना चाहूंगा कि किसी वस्तु या साध्य को बिना किसी उद्यम, साधना या समय से पूर्व प्राप्त कर लेने के उपक्रम में जब निराशा होती है तब वह स्थिति हमें ग़लत दिशा में जाने को प्रेरित कर देती है. परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बड़े ध्येय की प्राप्ति के लिए लगन, धैर्य, आत्मविश्वास अनिवार्य तत्व है. 'सहज पके सो मीठा होय.' आप आम को 'कार्बाइड' से पका कर खाना चाहेंगे या पेड़ पर सहज रूप से पकने देंगे जिससे उसमें मिठास और गुणवत्ता प्राकृतिक रूप से बनी रहे. आपने तैयारी के बारे में पूछा है तो जैसा मैं बता चुका हूं किसी पौधे को अंकुरण से लेकर वृक्ष बन कर फलदार होने तक कोई तैयारी नहीं करनी होती. 'रचना क्रिएटिविटी' स्वत: स्फूर्त है. ठीक वैसे ही जैसे एक नदी बहने से पूर्व कोई तैयारी नहीं करती बस बहने लगती है. बहना उसका धर्म है. सर्जन एक दैवीय प्रक्रिया है. सर्जन अपने आप में साधन नहीं, साध्य है. श्रम से प्राप्त नहीं किया जा सकता पर श्रम से उसको उत्कर्ष की ओर ले जाया जा सकता है. साधना इसी को कहते हैं. यह सृजनात्मकता भगवत कृपा से ही व्यक्ति विशेष पर अवतरित होती है. सृजन आराधना है, आराध्य है, यदि आप में लगन है और जीवन जीने की कला है और कोई गंतव्य है.

'स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दयातु'.

➤ **विज्ञानव्रत जी आपसे बातचीत करके परम आनंद की अनुभूति हो रही है. बहुत कुछ जान कर भी कितना जानने को रह गया है. यह ही एक सर्जक की उपलब्धि है. आपकी ही इन पंक्तियों से आपसे विदा ले रही हूं-**

एक मुख़्तसर ग़ज़ल ज़िंदगी,
इसमें कोई क्या क्या कह ले ।

एन-१३८, सेक्टर-२५,
नोएडा-२०१३०१.
मो.: ९८१०२२४५७१.
ई-मेल : vigyanvrat@gmail.com

- श्रीमती मधु प्रसाद
२९, गोकुलधाम सोसायटी
चांदखेड़ा, अहमदाबाद-३८२४२४
मो. : ९५५८४२४७८८
ई-मेल : prasad.umesh51@gmail.com

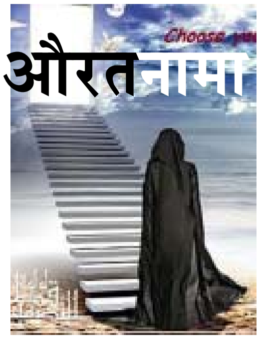

वर्ज़ीनिया वुल्फ : अशांत मन और देह से जूझती सशक्त रचनाकार

✍ डॉ. राजम पिल्लै

"All I could do was to offer you
an opinion upon one minor point-
a woman must have money
and a room of her own if she is
to write fiction, and that, as you
will see, leaves the great problem
of the true nature of woman and
the true nature of fiction unsolved."

''मैं सिर्फ़ इतना ही कर सकती थी कि एक छोटे मुद्दे पर आपके सामने अपनी राय रखूं — वह यह कि एक स्त्री के पास निश्चित ही पैसा और अपना एक कमरा होना चाहिए, अगर उसे कथा-लेखन करना है. और जैसा कि आप देख सकते हैं कि उससे यह बड़ा मुद्दा तो अनसुलझा ही रह जाता है कि स्त्री की सच्ची प्रकृति क्या है और कथा-विधा की सच्ची प्रकृति क्या है?

वर्ज़ीनिया वुल्फ : 'एक अपना कमरा' (१९२०)

वर्ज़ीनिया वुल्फ (सन १८८२-१९४१), बीसवीं सदी के अंग्रेज़ी साहित्य की एक सशक्त हस्ताक्षर! मोडर्निज़्म - 'आधुनिकतावाद' के प्रस्थापकों में अग्रगण्य विचारक! फेमिनिज़्म-स्त्रीवाद की मुखर पैरोकार! उपन्यासकार, निबंधकार, पत्रकार..!

उस समय, यानी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के कालखंड में समूचा यूरोप विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन, एक अभूतपूर्व संक्रांति-काल से गुज़र रहा था. 'राष्ट्रवाद' क्रमश: उग्र रूप ले रहा था. लगभग हर राष्ट्र के उपनिवेश दुनिया-भर में फैले हुए थे. ग्रेट ब्रिटेन के सामाजिक-साहित्यिक-राजनीतिक हलकों में ज्वलंत प्रश्न पूछे जा रहे थे; साहित्य तथा कला की सभी विधाओं में अकल्पनीय परिवर्तन हो रहे थे. वर्ज़ीनिया इन सबकी या तो सक्रिय साक्षी थीं या सहभागी!

वर्ज़ीनिया का परिवेश उसे गढ़ रहा था, कालांतर में उसने परिवेश पर अपनी छाप डालनी शुरू की — बहुत हल्की पर अमिट!

परिवार तथा परिवेश :

एडेलाइन वर्ज़ीनिया स्टीफ़न का जन्म २५ जनवरी १८८२ में इंग्लैंड के केनसिंगटन, मिडलसेक्स में हुआ. उसके पिता सर लेसली स्टीफ़न और माता जूलिया प्रिंसेप डकवर्थ उच्च मध्यवर्गीय, संभ्रांत परिवार के थे.

पिता प्रखर विद्वान थे, मां सुंदर और परिवार का सामाजिक दायरा चुनिंदा और प्रभावशाली व्यक्तियों का था. स्टीफ़न और जूलिया की शादियां पहले भी हो चुकी थीं और वे अपने-अपने जीवनसाथियों को खो चुके थे. सो, वर्तमान स्टीफ़न परिवार में तीन शादियों से उत्पन्न बच्चे थे और वे सभी बाद में किसी-न-किसी रूप में वर्ज़ीनिया के जीवन को प्रभावित करनेवाले थे. उनमें भी विशेष रूप से बहन वेनेसा स्टीफ़न और भाई थोबी स्टीफ़न.

उस युग में इंग्लैंड के सुप्रतिष्ठित विद्यापीठों — ऑक्सफर्ड और केंब्रिज़ में लड़कियों को प्रवेश नहीं मिलता था इसलिए वर्ज़ीनिया और वेनेसा की पढ़ाई घर पर ही हुई और उनके भाइयों — थोबी और एड्रियन को विधिवत औपचारिक शिक्षा दी गयी और केंब्रिज़ भेजा गया.

वर्ज़ीनिया और उसकी बहन को पिता की बहुत बड़ी लाइब्रेरी, विद्वत्ता, बुद्धिजीवी — प्रभावशाली व्यक्तियों के संपर्क का प्रचुर लाभ मिला लेकिन वर्ज़ीनिया के मन में स्त्री के प्रति किया जाता असमानता का व्यवहार एक दंश की तरह गड़ा रहा और बाद में उसके लेखन में उसकी टीस अभिव्यक्त होती रही. स्त्री के लिए उच्च शिक्षा के द्वार बंद यानी व्यक्तित्व के विकास के द्वार बंद और फिर किसी भी प्रकार के उपयोगी, महत्वपूर्ण हुनर और कला में महारत हासिल करने के, प्रतिष्ठा पाने के, मेहनताना पाने के द्वार

बंद!! वर्ज़ीनिया इन बंद दरवाज़ों से टकराती रही, उन्हें खोलने-तोड़ने की कोशिशें करती रही; आजीवन!

मनोरोग का दौर :

सन १८९५ में वर्ज़ीनिया की मां का बीमारी से देहांत हुआ. तब वर्ज़ीनिया १३ साल की थी और यहीं से मानसिक आघात से देह और मन के रोग-ग्रस्त होते रहने और उबरने का दौर उसके जीवन में शुरू हुआ जो अंततः मार्च, १९४१ को उसकी आत्महत्या का कारण बना. सन १९०४ में पिता की मृत्यु ने और फिर निकट संबंधियों और सन १९०६ में भाई थोबी की मृत्यु ने उसे ऐसी मानसिक स्थिति में पहुंचा दिया कि आम भाषा में उसे 'पागलपन का दौरा' ही कहा जा सकता था.

डॉ. राजम पिल्लै

अपनी इन अवस्थाओं का, डॉक्टरों के विश्लेषणों का इस्तेमाल बाद में वर्ज़ीनिया ने अपने उपन्यास 'मिसेस डॉलोवे' (Mrs. Dalloway) में किया.

व्यक्तित्व-विकास के सोपान :

वर्ज़ीनिया और उसकी बहन वेनेसा को घर ही में नियुक्त अध्यापकों से और विशाल पुस्तक-संग्रहों से और पिता के मार्गदर्शन में अंग्रेज़ी साहित्य और विविध विषयों के व्यापक और गहन अध्ययन का अवसर मिला. बाद में तो वर्ज़ीनिया ने किंग्स कॉलेज़, लंदन के 'द लेडीज़ डिपार्टमेंट' से प्राचीन ग्रीक, लैटिन, ज़र्मन और इतिहास का डिग्री स्तर का अध्ययन भी किया.

लेखन-कार्य :

सन १९०० के आस-पास से वर्ज़ीनिया ने लेखन कार्य शुरू किया. पत्र-पत्रिकाओं में इंटरव्यू, रिपोर्ताज़, समीक्षाएं लिखकर. तत्कालीन 'गार्डियन', 'द टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' आदि जानी-मानी पत्रिकाओं ने उसे छापा, पाठकों ने सराहा और लेखकों-समीक्षकों के सामने उसकी भाषा, शैली, विद्वत्ता की छबि उभरने लगी और अनायास ही वह उनके जादुई-मंडल में प्रवेश कर गयी.

'ब्लूम्सबेरी ग्रुप' :

वर्ज़ीनिया वुल्फ की बहन वेनेसा जानी-मानी आर्टिस्ट बन चुकी थीं और उसी की पहल पर सन १९०५ में ब्लूम्सबेरी नामक स्थान पर लेखकों, इतिहासकारों, समाज शास्त्रियों की नियमित बैठकें होने लगीं, विचारों का आदान-प्रदान होने लगा और ब्रिटेन के 'विक्टोरिया युगीन' खोखले सामाजिक प्रतिबंधों, वर्जनाओं के खिलाफ़ एक नयी जीवन-प्रणाली ही वहां शुरू हो गयी.

'ब्लूम्सबेरी ग्रुप' का आचरण विवादास्पद था, विक्षोभ का भी कारण बन रहा था लेकिन उसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता था क्योंकि उसमें लिटन स्ट्रेची, ई. एम. फोर्स्टर, लियोनार्ड वुल्फ और वर्ज़ीनिया स्टीफ़न जैसे प्रखर, प्रबुद्ध विचारक और लेखक शामिल थे. अंग्रेज़ी साहित्य में 'माडर्निज़्म' का अवतरण, विकास इन्हीं से या इन्हीं जैसे सोचनेवाले-लिखनेवालों की वजह से हो रहा था. सन १९१०-२४ का वह कालखंड यूरोप के रचनात्मक जगत में महत्वपूर्ण था, ब्रिटेन के भी!

विवाह और सकारात्मक सहयोग :

वर्ज़ीनिया ने 'ब्लूम्सबेरी ग्रुप' के ही एक सदस्य, फेबियन सोशलिज़्म के सिद्धांतों को माननेवाले, सामान्य आर्थिक स्थितिवाले यहूदी-लियोनार्ड वुल्फ से सन १९१२ में विवाह किया. वर्ज़ीनिया, इस सिद्धांत पर पक्का विश्वास करती थी कि विवाह जैसे संबंध भी समान विचार-मान्यताओंवाले दो व्यक्तियों के बीच ही होने चाहिए और वह 'बंधन' नहीं 'सहयोग' पर आधारित होने चाहिए. वर्ज़ीनिया को मनोरोग के दौरे पड़ते थे इसलिए दोनों ने बच्चे न पैदा करने का निर्णय लिया और वर्ज़ीनिया के रचनात्मक पक्ष को बढ़ावा और सहयोग देने का कार्य लियोनार्ड ने आजीवन किया, वर्ज़ीनिया की आत्महत्या से हुई मृत्यु के बाद भी!

वर्ज़ीनिया का साहित्यिक अवदान :

वर्ज़ीनिया वुल्फ ने विविध विधाओं में विपुल लेखन कार्य किया. उनमें से कतिपय उल्लेखनीय ग्रंथ ये हैं :

उपन्यास : द वॉयेज आउट (१९१५); नाइट एंड डे (१९१९); जेकब्स रूम (१९२२); मिसेज डालोवे (१९२५); टू द लाइट हाउस (१९२७); ओरलांडो (१९२८); द वेव्स (१९३१); द इयर्स (१९३७); बिटवीन द एक्टस (१९४१) (मरणोपरांत प्रकाशित).

कहानी-संग्रह – (छः). **डायरी** (पांच खंडों में मरणोपरांत प्रकाशित), विपुल पत्र, संस्मरण जीवनी-लेखन.

वर्ज़ीनिया का वैचारिक अवदान :

वर्ज़ीनिया रूसी साहित्य के कथाकारों — लियो टॉलस्टाय, चेखोव, तुर्गनेव और दास्तेयेवोस्की की अत्यंत प्रशंसक थी. मानव-मन की अतल गहराइयों के अंधेरों तक पहुंचनेवाले दास्तेयेवोस्की की मानसिक छटपटाहट, उन्हें शब्दाकार देने का अपूर्व कौशल वर्ज़ीनिया को प्रभावित करता था.

वर्ज़ीनिया और लियोनार्डो विचारों से 'अंतर्राष्ट्रवादी

और 'पेसिफ़िस्ट-युद्ध-विरोधी' थे. सन १९१४-१८ तक के 'महायुद्ध' सभी युद्धों को समाप्त करने के लिए लड़े गये विश्वयुद्ध ने पूरे विश्व में युगांतर ला दिया था. लगभग दो करोड़ लोग इसमें मारे गये. करोड़ों की संपत्ति का नुकसान हुआ और एक अनमोल वस्तु 'विश्वास', 'बंधु-भाव', 'मानवीयता' का सदा-सर्वदा के लिए विनाश हो गया. वर्ज़ीनिया ने 'उग्र राष्ट्रवाद' का साथ देने से मना कर दिया. उसे जन-आक्रोश का सामना करना पड़ा, उसे साहित्य के हाशिये पर डाल देने या पूरी तरह से पोंछ देने के प्रयास हुए, पर वर्ज़ीनिया की सोच, उसका लेखन कभी भी न सतही रहा और न ही लोकप्रियता का मुंहताज!

बीसवीं सदी की नयी स्त्रीवादी धारा ने वर्ज़ीनिया को पुनर्मूल्यांकित किया और उसका एक लंबा निबंध — 'ए रूम ऑफ वन्स ओन' आज स्त्री-लेखन और स्त्रीवादी लेखन का एक महत्वपूर्ण प्रबंध बन चुका है.

अपना एक कमरा (स्त्री का) एक ऐतिहासिक समीक्षा :

वर्ज़ीनिया वुल्फ को सन १९२८ में महिला श्रोताओं के दो समूहों के बीच दो पेपर पढ़ने के लिए आमंत्रित किया गया जिनका विषय था — 'विमन एंड फ़िक्शन' ('स्त्री और कथा'). वर्ज़ीनिया ने इसके माध्यम से अंग्रेज़ी साहित्य में 'स्त्री-लेखन' का सिंहावलोकन किया और निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किये जो आज के २१वीं सदी के भारत के स्त्री-लेखन के लिए भी प्रासंगिक हैं :

१. ब्रिटेन में सोलहवीं सदी में स्त्री के दो ही वर्ग मुख्य दिखते हैं, एक मध्यवर्गीय स्त्री और दूसरा उच्च वर्गीय. दोनों ही का लेखन से कोई सरोकार नहीं है. एक स्त्री १२-१३ बच्चों के लालन-पालन और घर-गृहस्थी में इतनी जुती हुई रहती है कि उसके पास न ऊर्जा बचती है न प्रेरणा. दूसरी केवल 'शोभा की वस्तु' होती है.

२. सोलहवीं सदी की स्त्री के सामने सिवाय अपने माता-पिता द्वारा नियत पुरुष से विवाह करने के और कोई विकल्प नहीं था. विवाहित स्त्री का संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं था; अगर वह कमाई करती भी तो उसका स्वामी पति ही होता था. उच्च वर्ग की कतिपय स्त्रियों ने कविता आदि लिखने की कोशिश की भी तो या तो उनकी खिल्ली उड़ाई गयी या उन्हें चरित्रहीन माना गया.

३. मान लीजिए, शेक्सपियर की एक बहन होती, जन्मजात उतनी ही प्रतिभा-संपन्न, उतनी ही संवेदन-क्षम तो क्या वह शेक्सपियर की तरह नाटक लिख पाती? कतई नहीं, क्योंकि वह दुनिया तो पूरे तौर पर औरत के लिए वर्जित थी.

४. यौन-शुचिता के सारे नियम, बंधन एकतरफ़ा हैं, सिर्फ़ स्त्री पर वे लागू किये जाते हैं.

५. स्त्री के लिए प्रतिष्ठापित विद्यापीठों के द्वार बंद हैं, उन्हें सिवाय सिलाई-कढ़ाई, सिंगार-बनाव के और किसी हुनर में महारत हासिल करने के अवसर नहीं दिये जाते.

६. उन्नीसवीं सदी आते-आते स्त्रियों ने कथा-लेखन, उपन्यास-लेखन शुरू तो किया लेकिन उनके कथ्य में, शैली में उनके ऊपर पड़ता दबाव, उनका अंतर्द्वंद्व स्पष्ट दिखता है और इसलिए अपना सर्वश्रेष्ठ, साहित्य को प्रदान करने में वे असमर्थ-सी दिखती हैं.

७. निष्कर्षत: प्राथमिक तौर पर केवल इतना ही 'स्त्री और कथा-लेखन' के संदर्भ में कहा जा सकता है कि 'स्त्री के पास निश्चित ही पैसा होना चाहिए और अपना एक कमरा होना चाहिए अगर वह कथा-लेखन करना चाहती है!

एक अशांत देह में निहित अनेक अशांत मनों के संघर्ष का समापन :

महायुद्ध का भयानक साया, सहकर्मियों का एक-एक कर निधन वर्ज़ीनिया वुल्फ को अकेला करता गया, अवसाद के गहरे कोहरे में वह घिरती गयी.

२८ मार्च १९४१ को ५९ साल की उम्र में वर्ज़ीनिया वुल्फ अपने आवास से चलकर, आधे मील दूर स्थित आउसे (Ouse) नदी के तट पर गयी, उसने अपने कोट की जेबों में कंकड़-पत्थर भर रखे थे और वह नदी में चलती चली गयी. अबकी बार वह आत्महत्या करने में सफल रही!

उसकी मृत देह लगभग एक महीने बाद १८ अप्रैल को, कुछ बच्चों को नदी में तैरती हुई मिली. पति लियोनार्ड वुल्फ से वह पत्रों द्वारा चिर विदाई ले ही चुकी थी. २१ अप्रैल को उसका दाह-संस्कार किया गया और उसके आवास-स्थान के बगीचे के बाहर एक विशाल पेड़ के नीचे उसकी राख को दफ़नाया गया और उसके समाधि-लेख पर उसके उपन्यास 'द वेव्स' की अंतिम पंक्तियां उत्कीर्ण की गयीं :

"Against you I will fling myself, unvanquished and unyielding, O Death!"

('ओ मृत्यु, मैं अपराजित और अदम्य अपने को तुम्हारे प्रतिरोध में क्षेपित करती हूं.')

६०१–ए, रामकुंज को. हॉ. सो.,
रा. के. वैद्य रोड, दादर (प.),
मुंबई-४०००२८.
मो.:९८२०२२९५६५.
ई-मेल : pillai.rajam@gmail.com

उत्कट करुणा की गवाक्ष है - 'खिड़की'

✍ राजेंद्र कुमार

खिड़की (कहानी-संग्रह) – **बृज मोहन**
प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, ई-१७,पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२. **मूल्य-** २५०/- रु.

इधर हाल के दो-तीन वर्षों में बृज मोहन की जो कहानियां प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में दिखायी दीं, उनमें से ही चुनी हुई ग्यारह कहानियों का संकलन है, 'खिड़की.' कुशल संपादकों की कसौटी से गुज़र चुकीं इन कहानियों को पुस्तक के रूप में पढ़ना, जीवन के विविध अनुभवों से एक साथ गुज़रना है. भाषा की चतुराई या किसी धुंध को खड़े किये बिना पठनीय किस्सागोई और पात्रों का पाठक मन में उतर जाना ही इन कहानियों की विशेषताएं हैं.

कुछ ऐसे सहृदय पात्र, जो आज दुर्लभ हैं, लेकिन कहानियां विश्वास दिलाती हैं कि ऐसे लोग भी समाज में होते हैं. 'कोटर वाले कक्का' के कक्का, जो ख़ुद खुरदरे हैं, चितकबरे हैं, लेकिन सर्वप्रिय हैं. हमेशा ख़ुशियां बांटते हैं, जीते-जी तो जीते जी, और मरकर भी. बड़ी सहजता से कही गयी यह कहानी 'कथाबिंब' द्वारा वर्ष २०१५ के लिए सर्वश्रेष्ठ कहानी के रूप में पुरस्कृत है. वहीं 'पत्रमैत्री' के निश्छल कस्बाई पात्र चैतूलाल चौरसिया, जिन्हें पत्र-मित्रता का शौक़ चढ़ता है तो अपनी शैली और ख़ूबसूरत लिखावट से दूर-दूर तक छा जाते हैं, पर थोड़े से झूठ के कारण सांसत में जीने लगते हैं. रोचक प्रसंगों से गुज़रती कहानी में एक पत्रमित्र उन्हें ऐसी मिलती है, जो प्रगति का मार्ग दिखा देती है और वह अपनी लेखन-कला से राजधानी में जाकर स्थापित हो जाते हैं. नादान पात्र चैतूलाल पाठकों को याद रह जाते हैं.

दो अटल-जटिल पात्रों की कहानी है, 'चुनाव चक्रम.' सत्ता हथियाने के लिए राजनीतिक दांव-पेंच की यह कहानी हल्के व्यंग्य टोन में लिखी गयी है, जिसका एक पात्र है बल्लम महाराज, जो कि खनन माफ़िया है और जिसके पास धनदौलत के साधनों की कमी नहीं, पर राजनीतिक महत्वाकांक्षा के लिए कुछ भी करने को तैयार. वहीं सोच-समझकर चाल चलने वाले बाहुबली नाम के राजनीतिक सौदागर हैं, जिनकी शतरंजी चाल पर बल्लम महाराज अपने चेलों सहित अंधे बनने को राजी हो जाते हैं. जनप्रतिनिधियों के हाथों लोकतंत्र का मजाक उड़ाये जाने की यह कहानी आंखों में धूल झोंकने के सजीव मुहावरे पर समाप्त होती है.

बैंकों में अंधे कारोबारी लक्ष्यों के पीछे भागते लोगों की अपनी सहकर्मियों से जुड़ी भावनाएं मरने लगी हैं. एक बैंककर्मी की सेवा के आख़िरी दिन की संवेदनशील कहानी 'खाली हाथ' है. वहीं एक बुरी रात के अनुभव की उत्सुकतापूर्ण कहानी है 'वह रात', जो कि होटलकर्मियों के जालबट्टे को उजागर करती है, जिसमें वे यौनसुख की लालसा देकर गेस्ट को ठगी का शिकार बनाते हैं. 'बोझ' ऐसे दो बूढ़ों की करुणामयी कहानी है, जो जीवन की जर्जर नाव पर सवार हैं और अशक्त खेवनहार ख़ुद हैं. उनकी पेन्शन पर गुज़र करने वाले उनके ही काहिल पुत्र, उन्हें धिक्कारते रहते हैं. कुपित होकर जब एक बूढ़ा जलकर मर जाना चाहता है तो दूसरा उसे सामंजस्य बैठाने की सलाह देकर मनोबल देता है और जब दूसरा अपने बेटे की बातों को नहीं सह पाता, रेल से कटकर आत्महत्या को उतारू होता है तो पहला उसे बचाते हुए याद दिलाता है कि आप तो मुझे समझाते थे और आज आप ख़ुद...

'लाचारी' एक ऐसी थकी-हारी महिला मज़दूर की कहानी है, जो कि पति के नाकारा होने के कारण भरणपोषण के लिए विवश होकर गर्भावस्था में भी बारातों में बत्ती उठाने का काम कर लेती है. एक बाराती, जो शराब के नशे रहते हुए उसकी ओर आकर्षित होता है और अपने सूट-टाई की चिंता किये बग़ैर भावुकतावश ऐसा क़दम उठाता है कि उसके दोस्त को हैरत होती है. कहानी एक सकारात्मक अंत पर समाप्त होती है. वृहद महानगरों के लिव-इन-रिलेशनशिप का देसी संस्करण है कहानी 'सहजीवन.' कस्बाई मानसिकता वाले बड़े शहर की एक जवान विधवा शहर की नब्ज पहचानती है, जहां खाली रहकर इज़्ज़त पर डाका डलवाना है. जबकि उसका कच्चा परिवार है, साथ में आर्थिक विवशताएं हैं. वह अपने साहस और दंभ पर सबको ठेंगा दिखाते हुए

ऐसा रास्ता चुनती है, जो उसके लिए हितकर भी था. संघर्षशील स्त्रियों की दोनों ऐसी कहानियां हैं, जिनमें वे अपनी सशक्तीकरण ख़ुद करना चाहती हैं.

घनी वेदना की दो ऐसी छोटी कहानियां हैं 'गिद्ध' और 'रेहन पर राशनकार्ड', जो कि अमानवीयता व सामाजिक भ्रष्टाचार के विकृत चेहरों को बेनकाब करती हैं. जब सरकारी सुविधाएं या योजनाएं सही कारगर नहीं होंगी तो अशक्तों के शोषण के उपक्रम चतुराई से खड़े किये जाते रहेंगे. सरकार को ठेंगा दिखाते हुए शोषकों के लाभ कमाने के धंधे चलते रहेंगे, सरकारें चाहे जितने विकास और उत्थान की बातें कर लें.

अंत में शीर्षक कहानी 'खिड़की' की बात. बाह्यजगत से हमारा मन प्रभावित होता रहता है और कभी समय अनुकूल लगता है तो हम वैसा कर लेना चाहते हैं, जिनसे हम प्रभावित होते हैं. और कर भी बैठते हैं, पर अपनी हैसियत को नहीं जानते. अनेक विडंबनाओं का शिकार भी होते हैं. छटपटाते हैं. जीवन में ऐसी-ऐसी परेशानियां आती हैं, जिन्हें हमने सोचा नहीं होता. मकान बनवाना और इच्छित खिड़की लगवाना प्रतीक हो सकते हैं. हालांकि कहानी सुखांत है. पारिवारिक सहयोग से समस्याएं सुलझती हैं. फिर भी नायक अंत तक संशय में रहता है, कहीं मरणासन्न बूढ़ी मां का कर्ज़ हमेशा के लिए बाक़ी न रह जाय. कहानी का अंत इतना मार्मिक है कि नायक के प्रति सहानुभूमि उमड़ पड़ती है.

इस कहानी-संग्रह को उत्कट करुणा की कसी हुई कहानियों का संग्रह कहना उचित होगा.

२८२, राजीवनगर, नगरा,
झांसी-२८४००३
मो.: ९४५५४२०७२७.

जीवन के सकारात्मक पक्ष की कथाएं

डॉ. दिनेश पाठक 'शशि'

यहां सब चलता है (लघुकथा संग्रह) – **डॉ. सुरेंद्र गुप्त**
प्रकाशक : सूर्य भारती प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली-११०००६. **मूल्य-**२५०/- रु.

लघुकथा संग्रह 'यहां सब चलता है' की सभी लघुकथाएं डॉ. सुरेंद्र गुप्त के जीवन भर के अनुभवों एवं अनुभूतियों की एक जीती-जागती तस्वीर प्रस्तुत करती रचनाएं हैं जिनमें जीवन के यथार्थ को, विसंगतियों को एवं अंतर्विरोधों को तो देखा ही जा सकता है जीवन के सकारात्मक पक्ष को भी निहारा जा सकता है.

संग्रह में कुल इकहत्तर लघुकथाएं हैं. आज के अति भौतिकतावादी एवं आपाधापी के युग में चाहे-अनचाहे संयुक्त परिवार, एकल परिवारों में विभक्त होते जा रहे हैं. संग्रह की लघुकथा 'लौटना' एक ऐसी लघुकथा है जो भारतीय संस्कृति के एक अंग 'संयुक्त परिवार' के महत्व की पक्षधरता करती सकारात्मक सोच की लघुकथा है.

दीनानाथ का चार साल का बेटा गुम हो गया. ढूंढ़ते-ढूंढ़ते सभी निराश लौट आये दीनानाथ की पत्नी अब अपने उस निर्णय को कोस रही है जब उसने अपने सास-ससुर से अलग रहने का निर्णय लिया था — 'उधर मां पागलों की तरह विलाप किये जा रही थी. अब उसे अपनी सास का ध्यान आ रहा था. आज यदि वह अम्मा और बाउजी के साथ ही रह रही होती तो यह अनहोनी घटना न घटती. बाऊ जी तो हमेशा पोते के साथ ही रहते और उसके साथ कुछ न कुछ खेलते रहते. और नहीं तो चाचा ही उसे कंधे पर बैठा कर कहीं न कहीं घुमाता रहता.' वाक्य के द्वारा डॉ. सुरेंद्र गुप्त ने संयुक्त परिवार के महत्व व आपसी प्रेम की अभिव्यक्ति लघुकथा के माध्यम से बहुत ही सहज रूप से कर दी है साथ ही एक अन्य वाक्य, 'देखो हमारा राजू तो केवल दो ही घंटे घर से बाहर रहा और मेरी क्या दुर्दशा हुई, यह तो मैं ही जानती हूं. मैंने तो उनके पाल-पोसकर बड़े किये हुए, नौकरी पर लगे हुए बेटे को ही उनसे जुदा कर दिया. बूढ़े मां-बाप से अलग करके सचमुच मैंने बहुत बड़ा पाप किया है' के द्वारा पत्नी द्वारा प्रायश्चित कराकर लघुकथा को सकारात्मक व लोकरंजक बना दिया है.

संग्रह की ऐसी ही एक लघुकथा है 'फूल हर सिंगार के' जो अलग-अलग हो गये दो भाइयों में पुन: प्रेम पैदा करा देने वाली है. दो भाइयों के परिवार में आपसी वैमनस्यता के कारण घर के बीच दीवार खड़ी हो गयी. बड़े भाई ने अपनी बेटी की शादी में अपने छोटे भाई को तथा साथ रह रही मां को भी आमंत्रित नहीं किया. पोती की विदाई के क्षणों को देखने के लोभ को दादी संवरण न कर सकी और अपने आंगन से ही दादी चाचा व चाची उसे देखने लगे. विदा होती पोती ने जब चाचा के आंगन की ओर देखा तो अपने को रोक न सकी. दादी, चाचा व चाची भी उसे

उपहार व प्यार लुटाने में पीछे न रहे.

वर्तमान युग में अपने वृद्धों की अवहेलना आम बात सी हो गयी है. संग्रह की लघुकथा 'मां', और 'गंगा स्नान' एवं 'कहीं बहू ने देख लिया तो' बहू और पुत्रों द्वारा मां व पिता की अवहेलना का यथार्थ चित्रण करती लघुकथाएं हैं.

जिन वस्तुओं को हम अनुपयोगी समझकर फेंक देते हैं, ग़रीब के लिए वही बहुत उपयोगी होती हैं. बाढ़ के गंदे पानी में भीग जाने से सड़ गयी रजाई को फेंकने के लिए मां-बेटे में बहस होती है. अंत में सायंकाल में पिता उस रजाई को एक नाले के किनारे छोड़ आये. रजाई को देख कर बुढ़िया प्रसन्न होकर ईश्वर को धन्यवाद देते हुए बड़बड़ाने लगी — 'पिछला जाड़ा तो बोरी को ओढ़कर ही काटा था किंतु इस बार तूने सुन ली. एक अच्छी रजाई भेज दी. सचमुच भगवान तू कितना दयालु है.' अमीरी-ग़रीबी के बीच भावनात्मक तुलना करती हुई एक मार्मिक लघुकथा है 'रजाई'.

संग्रह की शीर्षक लघुकथा है — 'यहां सब चलता है' जिसमें डॉ. सुरेंद्र गुप्त की अनुभवी आंखों ने साक्षात्कार की औपचारिकता का खुलासा किया है. लघुकथा के अनुसार नौकरियों के साक्षात्कार के लिए प्रत्याशियों को बुलाना एक औपचारिकता मात्र है. प्रत्याशियों का चयन योग्यता के आधार पर नहीं, बड़े-बड़े नेता और अधिकारियों से उनकी सिफ़ारिश और रिश्वत के बल पर होता है.

लघुकथा, 'गाइड' संग्रह की प्रथम रचना है. जिसमें बेरोज़गारी के दंश को झेलता युवक गाइड के साथ-साथ यात्री पति-पत्नी के बच्चे को गोद में लेकर १००० सीढ़ियां चढ़ते हुए कुली का कार्य भी करने को विवश होता है. इस लघुकथा में डॉ. सुरेंद्र गुप्त ने अपनी की संवेदनहीनता इस बात से सिद्ध की है कि वह अपने पुत्र की ज़िद पर उसे ५० रुपये का खिलौना तो दिला सकती है पर गाइड से उसे कुली बने उस युवक को मात्र बीस रुपये ही थमाती है वहीं लेखक ने पति की संवेदनशीलता को दर्शाकर लघुकथा को सकारात्मक बना दिया है.

सद्य ब्याहता पत्नी अपने पति को ब्लड डोनेट करने हेतु सहर्ष अनुमति देकर एक अनुकरणीय उदाहरण पेश करती है लघुकथा — 'हर्शिता' में.

लड़का और लड़की के भेदभाव को दूर करने का प्रयास करती लघुकथा है — 'वंशबेल' जिसमें लड़की के जन्म पर मातम और लड़के के जन्म पर ख़ुशी मानने के तथ्यों को उठाया गया है. वंश चलाने के लिए परिवार को पुत्र चाहिए. किरणे के पुत्री के जन्म लेने पर पूरा परिवार गम में डूब जाता है किंतु किरणे का पति हाथों में लड्डुओं का लिफ़ाफ़ा पकड़े ख़ुशी में डूबा हुआ लड़की के आगमन पर परिवार के सदस्यों को अपनी ख़ुशी व्यक्त करने के लिए लड्डू खिलाना चाहता है. वह अपनी दादी एवं मां को यह कह कर निरुत्तर कर देता है कि वे भी तो किसी की बेटी ही थीं न. कन्या भ्रूण की रक्षा एवं कन्या जन्मदर को ऊंचा उठाने के लिए यह लघुकथा प्रेरणास्पद है.

मानवतावादी संदेशप्रद लघुकथाओं में संग्रह की लघुकथा — 'लो पेट भर खाओ.', 'एक पत्र पापा के नाम', 'त्याग पत्र', 'शर्म' और 'शुरुआत' को लिया जा सकता है तो यौन उत्पीडन को दर्शाने वाली संग्रह की लघुकथाएं हैं — 'लड़कियां' तथा 'वह भी तो...'

भ्रष्टाचार की पोल खोलती लघुकथाओं में 'सूझबूझ', 'प्रधान जी', 'मज़बूरी', 'जेबकतरा', 'फ़ीस', 'हर शाख पर ...' 'यूनियन ज़िंदाबाद', 'धंधा', 'पहला पाठ', 'समाधान' एवं 'बंद मुट्ठी' आदि का उल्लेख किया जा सकता है जो अपने कथ्य और शिल्प की कसावट को कारण पाठक को सहज हो प्रभावित करने में सफल हुई हैं.

आशा है डॉ. सुरेंद्र ग्रुप के इस लघुकथा संग्रह का सर्वत्र स्वागत होगा.

२८, सारंग विहार, मथुरा-२८१००६.
मो. : ९४१२७२७३६१

ग़ज़ल

अशोक 'अंजुम'

हर इक बंधन को मौजों में बहाकर ढूंढ़ लेता है,
अगर बहता रहे दरिया समंदर ढूंढ़ लेता है ।

हमेशा वक़्त के आगे नज़र जिसकी पहुंचती है,
वो सहरा में भी हरियाली के मंज़र ढूंढ़ लेता है ।

जहां तक तुम नहीं जाते, जहां तक हम नहीं जाते,
वहां के मोतियों को एक शायर ढूंढ़ लेता है ।

ये बच्चा किस तरह के रास्तों से होके आया है,
इसे जब फूल कहते हैं ये ख़ंजर ढूंढ़ लेता है ।

दिखाने को सही रस्ता, जलाने को कई दीपक,
कबीरा आख़िरी सांसों में मगहर ढूंढ़ लेता है ।

स्ट्रीट-२, चंद्रविहार कॉलोनी
(नगला डालचंद), क्वारसी बाईपास,
अलीगढ़-२०२००२ (उ. प्र.)
मो. ९२५८७७९७४४, ९३५८२१८९०७.